चिन्तन-अनुचिन्तन

।। श्रीशान्तिवीरशिवधर्माजितसूरिभ्यो नमो नमः ।।
।।श्रीवर्धमानसागराय नमो नमः ।।

चिन्तन-अनुचिन्तन

(पूज्य आर्यिका विशुद्धमती माताजी द्वारा अपनी सल्लेखना-साधना के अन्तिम वर्ष में साधक-आत्मा को किया गया सम्बोधन)

प्रकाशकः

जिनराज जैन

2/26, अन्सारी रोड़, दरियागंज,
नई दिल्ली-110002

चिन्तन-अनुचिन्तन

प्रकाशकः
जिनराज जैन
2/26, अन्सारी रोड़, दरियागंज,
नई दिल्ली-110002

द्वितीय संस्करण — 1000 प्रतियाँ

मुद्रक
Plasticote (India), Shahdara,
Delhi-110093

"दो शब्द"

कुछ माह पूर्व सौभाग्य से पूज्य आचार्य 108 श्री वर्धमान सागर जी के संघ के दर्शन हेतु सलुम्बर (राजस्थान) जाना हुआ। वहीं आर्यिका 105 प्रशान्तमती जी के भी दर्शन हुए, जो आर्यिका विशुद्धमती जी की परम विदुषी शिष्या हैं, और जिन्होंने आ० विशुद्धमती जी की वैय्यावृत्ति बड़े ही मनोयोग से की थी।

पूज्या आर्यिका प्रशान्तमती जी ने समाधि-विधि में सक्रिय भूमिका निभायी और उस अवधि में पूज्या माता जी के चरण सान्निध्य में जो अनुभव उन्होंने किया, उसे लिपिबद्ध कर "अन्तरंग भावना" के रूप में प्रस्तुत कृति में प्रकाशन हेतु देकर मेरे आग्रह की रक्षा की। उनके इस अनुग्रह के लिए में उन्हें सादर प्रणति निवेदित करता हूँ। प्रस्तुत कृति उनकी प्रेरणा का ही सुफल है।

प्रस्तुत पुस्तक परम विदुषी पूज्या आर्यिका विशुद्धमती जी द्वारा अनुभूत विचारों का सुन्दर संकलन है। जो मार्मिक, हृदयग्राही, एवं वैराग्य को बढ़ाने और स्व-पर कल्याण में प्रवृत्ति बनाने में सहकारी कृति है। जिन-वाणी के प्रकाशन में मेरी एक ही भावना रहती है कि तीर्थंकर भगवान द्वारा प्रतिपादित वस्तु-स्वभाव संसार की सर्वश्रेष्ठ वस्तु है। क्योंकि जो जीवों को दुःखों से छुड़ाकर सुख प्रदान करे, उससे श्रेष्ठ वस्तु संसार में हो ही नहीं सकती।

इसी भावना को मूर्त रूप देने के लिए मैंने **द्रव्य-संग्रह, श्रावक प्रतिक्रमण, समाधि-दीपक, चरित्र-शुद्धि विधान, सिद्ध-चक्र-विधान** आदि पुस्तकें प्रकाशित की हैं। इस कड़ी में प्रस्तुत कृति को प्रकाशित करने का अवसर प्राप्त कर हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ।

मैं **कल्याणी पब्लिशर्स** के **श्री एस. पी. आनन्द साहब** का आभार प्रकट करना चाहता हूँ, जिनके सहयोग के बिना, मेरे द्वारा प्रकाशित सभी पुस्तकें (प्रस्तुत पुस्तक भी) इतने सुन्दर रूप में प्रकाशित होनी संभव नहीं थी। मेरे द्वारा प्रकाशित सभी पुस्तकों में उनका तन-मन-धन से साथ रहा है। किसी भी शुभ कार्य में सदैव प्रेरणा देना, उत्साह वर्द्धन करना उनका स्वभाव ही है। मैं उनके दीर्घायुष्य एवं अभ्युदय की कामना करता हूँ। विशेष बात यह है कि जन्मना स्वयं जैन न होते हुए भी जिस उच्च भावना से वे प्रकाशन कराते हैं, वह अतीव प्रशंसनीय है। वास्तव में तो मैं उनको केवल पुस्तक की पांडुलिपि देता हूँ और यह बता देता हूँ कि यह पुस्तक कितनी छपनी है।

बाकी का सारा कार्य वे स्वयं ही कराते हैं उनके इस सहयोग के प्रति कृतज्ञता एवं आभार व्यक्त करता हूँ।

आदरणीय पंडित श्री हंसमुख जी, जो पूज्य आर्यिका विशुद्धमती जी के मनसा वाचा कर्मणा परम भक्त है। धरियावद के पास नन्दनवन में रहकर वे भी धर्म की महती प्रभावना कर रहे हैं। अतः उनको भी बहुत-2 साधुवाद।

प्रस्तुत पुस्तक धर्मानुरागी बन्धुओं के लिए उपयोगी सिद्ध होगी ऐसी मैं आशा करता हूँ। सुधी पाठक इसका पर्यालोचन करें और जो त्रुटियाँ रह गयी हों उन्हें कृपया सूचित करें ताकि उनका परिमार्जन अगले संस्करण में किया जा सके।

जिनराज जैन
2/26 अन्सारी रोड, दरियागंज,
नई दिल्ली-110002

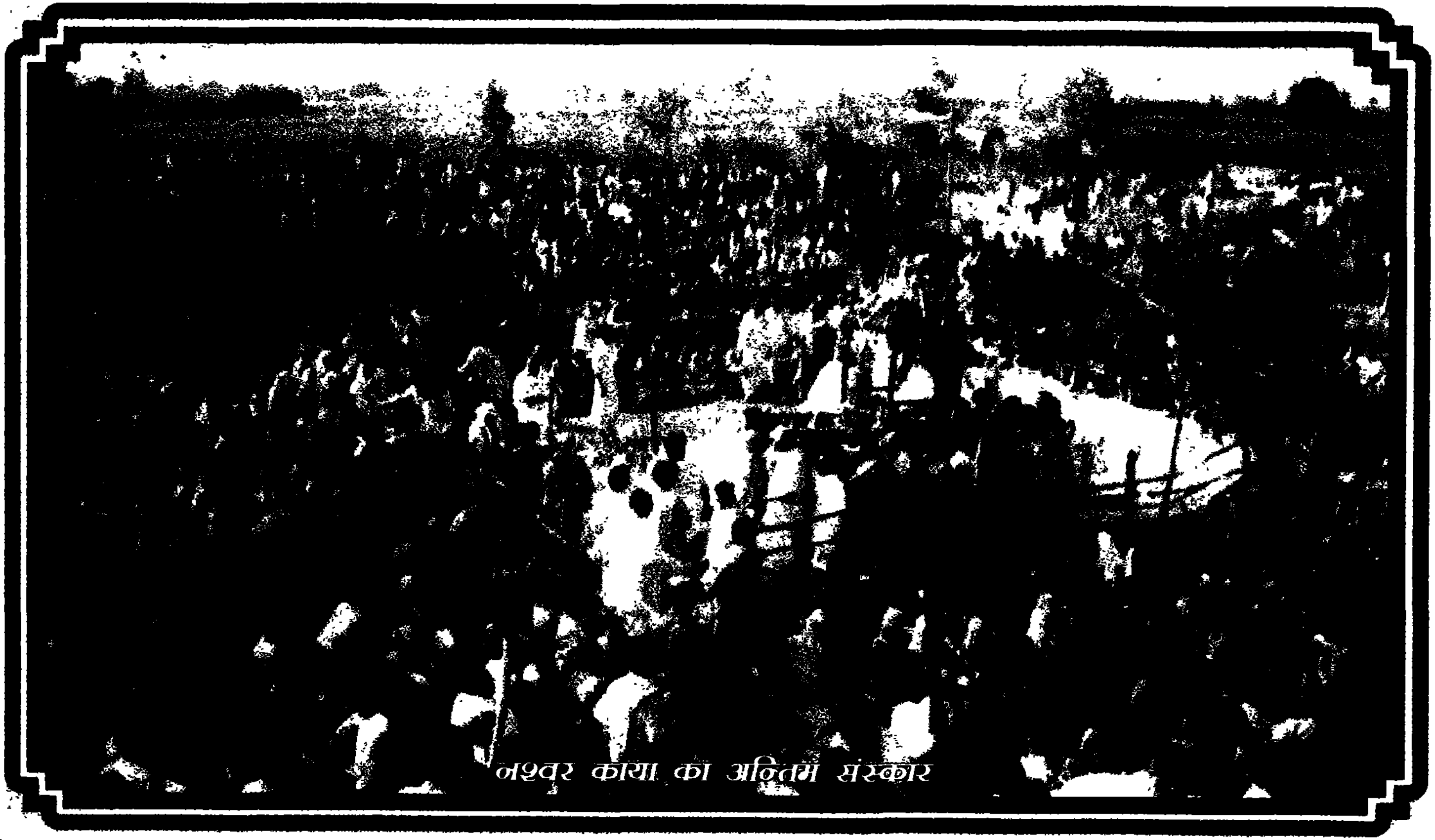
पूज्य १०५ आर्यिकाश्री विशुद्धमती माताजी

पूर्व नाम	-	श्रीमती सुमित्राबाई
पिता	-	श्रीमान् सिंघई लक्ष्मणलालजी
माता	-	श्रीमती मथुराबाई
भ्राता	-	श्री नीरज जैन श्री निर्मल जैन
जाति	-	गोलापूर्व दिगम्बर जैन
जन्मस्थान	-	ग्राम रीठी, जिला जबलपुर (म.प्र.)
जन्मतिथि	-	चैत्र शुक्ला तृतीया शुक्रवार सं. १९८६ १२ अप्रैल १९२९ ई.
शिक्षण	-	शास्त्री, साहित्यरत्न, विद्यालंकार
धार्मिकशिक्षण	-	डॉ. पं. पन्नालालजी साहित्याचार्य से
कार्यक्षेत्र	-	दिगम्बर जैन महिलाश्रम, सागर बारह वर्ष तक प्रधानाध्यापिका
प्रेरणाप्रद संस्कार	-	पूज्य १०५ श्री गणेशप्रसादजी वर्णी से
प्रोत्साहन	-	परम पूज्य १०८ आचार्यश्री धर्मसागरजी महाराज एवं उनके संघस्थ १०८ श्री सन्मतिसागरजी से
आर्यिका दीक्षा	-	परमपूज्य तपोधन आचार्य १०८ श्री शिवसागरजी द्वारा श्री अतिशय क्षेत्र पपौरा (म.प्र.) १४ अगस्त १९६४ श्रावण शुक्ला सप्तमी सं. २०२१ वि.
शिक्षागुरु	-	आचार्यकल्प १०८ श्री श्रुतसागरजी
विद्यागुरु	-	पूज्य आचार्य १०८ श्री अजितसागरजी
निर्यापकाचार्य	-	पूज्य आचार्य १०८ श्री वर्द्धमानसागरजी
सल्लेखना व्रत	-	१७ जनवरी १९९०
अन्तिम जलग्रहण	-	१६ जनवरी २००२
समाधि	-	पौष सुदी ८, मंगलवार, २२ जनवरी २००२ नन्दन वन, धरियावद (उदयपुर)

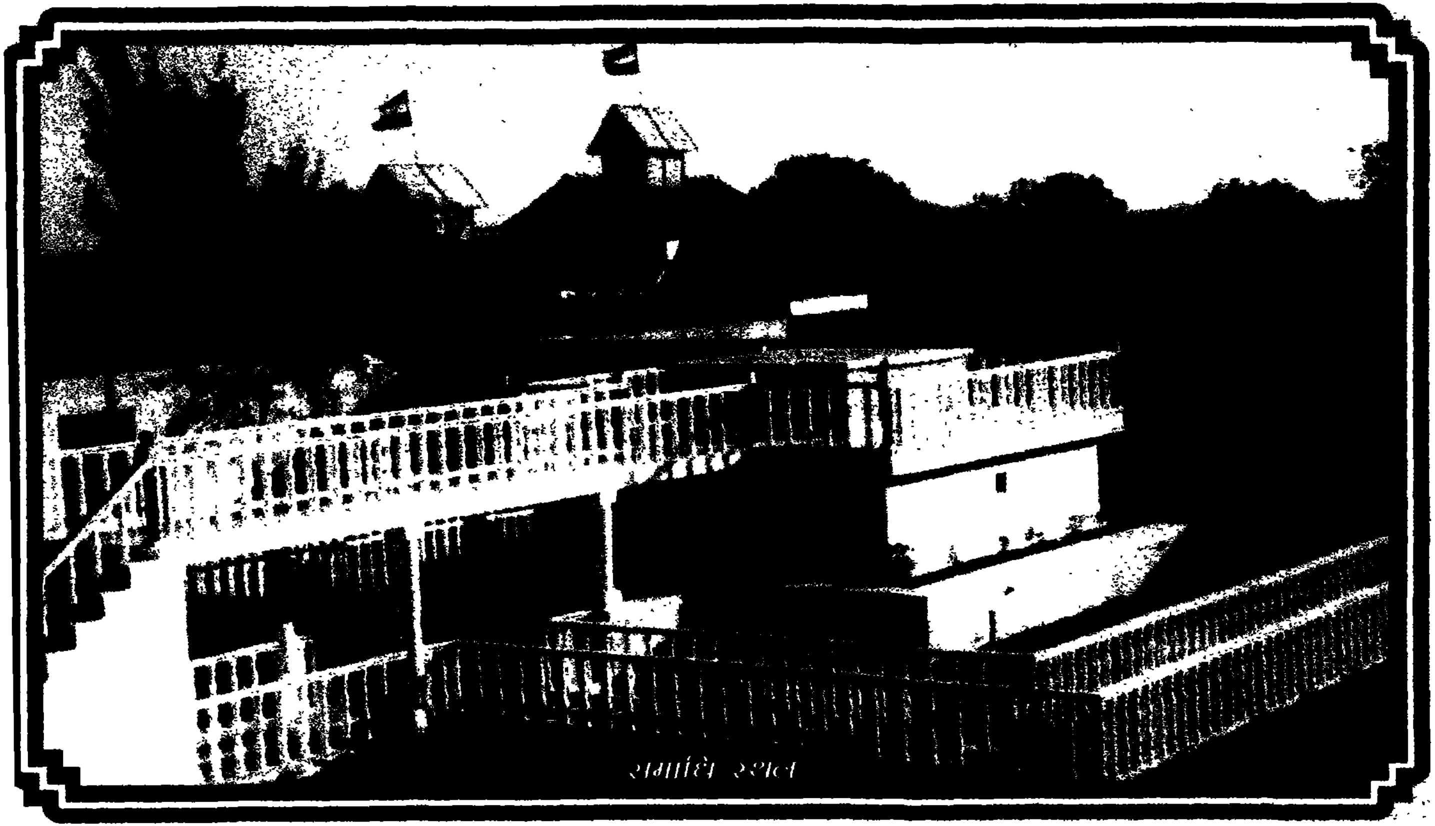

विदुषी आर्यिका रत्न पूज्य विशुद्धमती माताजी







नश्वर काया का अन्तिम संस्कार


સમાધિ સ્થળ

श्री क्षेत्र सिद्धान्त तीर्थ संस्थान, नन्दनवन-धरियावद (राज.)
(संक्षिप्त परिचय)

श्री क्षेत्र सिद्धान्त तीर्थसंस्थान, नन्दनवन-धरियावद ज्ञानार्जन, विद्धत्-निर्माण एवं धार्मिक चेतना के विस्तार की एक प्रामाणिक एवं सक्रिय संस्था है। इसका कार्यालय एवं परिसर नन्दनवन धरियावद, जिला उदयपुर (राज.) में है।

चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर जी महाराज की पट्टपरम्परा के वर्तमान पट्टाधीश आचार्य 108 श्री वर्द्धमानसागरजी महाराज के आशीर्वाद एवं उन्हीं के सत्सान्निध्य में दिनांक 8 दिसम्बर 1997 को नन्दनवन स्थल पर इस संस्थान की स्थापना की गई।

पूज्या विदुषी आर्यिका 105 श्री विशुद्धमती माताजी एवं आर्यिका 105 श्री प्रशान्तमती माताजी के सन् 1997, 1999, 2000, 2001 के चार चातुर्मासों से पवित्र एवं उनकी ज्ञानसाधना से विकसित यह संस्थान सम्पूर्ण देश के धर्मपरायण समाज के समीचीन मार्गदर्शन हेतु पूजा-विधान, प्रतिष्ठा, वास्तुशिल्प, ज्योतिष, संस्कार-विधि एवं सिद्धान्त के ज्ञाता विद्वानों को तैयार करने हेतु कृतसंकल्प है।

संस्था को इस कार्य में परम पूज्य सभी आचार्यों, मुनिराजों, आर्यिकाओं एवं त्यागियों के मंगल आशीर्वाद के साथ विद्वानों का मार्गदर्शन भी प्राप्त है।

श्री संस्थान में निम्नलिखित गतिविधियाँ प्रभावी हैं–

1. **श्रुतोत्सव :** प्रतिवर्ष 14 जनवरी को वार्षिक श्रुतोत्सव समारोह आयोजित किया जाता है।

2. **शिक्षण शिविर :** प्रतिवर्ष चैत्र एवं आश्विन मास में सप्तदिवसीय शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर का आयोजन।

3. **विशुद्ध अन्नपूर्णा :** श्री संस्थान के अध्यक्ष श्री हँसमुख जी जैन प्रतिष्ठाचार्य एवं परिवार के पुण्यार्जकत्व में यह अन्नपूर्णा अतिथियों की निःशुल्क खान-पान सेवा से प्रसन्नचित्त है।

4. **विशुद्ध आरोग्यवर्धिनी :** यह आयुर्वेद औषधालय प्रतिमाह की 1-2 तारीख को सिद्धहस्त वैद्य श्री प्रहलादजी मिश्रा, उदयपुर के निर्देशन में कार्यरत है।

5. हेमवन्त जिनालय : विश्व का सबसे लघुकाय एवं वास्तुशास्त्रोक्त निर्मित भगवान चन्द्रप्रभु का यह मन्दिर अत्यन्त मनमोहक एवं अतिशयमुक्त है।

6. समाधि स्थल : परमपूज्या विदुषी आर्यिका पूज्य विशुद्धमती माताजी ने 12 वर्षीय सल्लेखना व्रत नन्दनवन की भूमि पर पूर्ण करते हुए समाधिपूर्वक नश्वर काया का 22 जनवरी को प्रातः 4.29 पर परित्याग किया। अन्तिम संस्कार-स्थल पर आपकी स्मृति मे निर्मित समाधिस्थल आकर्षक एवं दर्शनीय है।

7. ज्वालामालिनी मन्दिर : भगवान चन्द्रप्रभु स्वामी की शासन यक्षी श्री ज्वालामालिनी देवी का यह मन्दिर गुफा में है। दर्शकों को प्रभावित करने वाला यह गुफा मन्दिर चमत्कारी है एवं मनोकामना पूर्ण करने वाला भी सिद्ध हुआ है।

8. समन्तभद्र विद्याविहार : श्री संस्थान परिसर में वर्ष 2002 में प्रारम्भ किया हुआ यह विद्यालय शिक्षण का अनूठा केन्द्र है। प्राथमिक स्तर से प्रारम्भ किये गए इस विद्यालय में जैनधर्म शिक्षा का कालांश अनिवार्य रखा गया है। विद्या विहार उच्च शिक्षण-प्रशिक्षण हेतु कृत संकल्प है।

"अन्तरंग भावना"

– लेखिकाः आर्यिका प्रशान्तमती जी

वस्तुतः जन्म और मृत्यु ये जीवन के दो छोर हैं। इनमें सामान्यतः जन्म के समय उत्सव तथा मृत्यु के समय शोक एवं दुःख प्रकट करने की परम्परा है, किन्तु जैन धर्म-दर्शन ने मृत्यु को महोत्सव का स्वरूप प्रदान करने की जो प्रक्रिया प्रस्तुत की उस अवधारणा को सल्लेखना, समाधिमरण वीरमरण पंडितमरण, संन्यासमरण आदि नामों से कहा गया है।

जो फला है वह झड़ेगा, जो जला है वह बुझेगा उसी प्रकार जो जन्मा है वह मरेगा यह अवश्यम्भावी है। अवश्यम्भावी घटना से भयभीत क्यों होना? भय से मृत्यु रुकने वाली नहीं है इसलिए मरण भय को छोड़कर दिगम्बर साधुजन मृत्यु को आह्वाहन करके बड़ी प्रसन्नता से मृत्यु को महोत्सव रूप में मनाकर समाधिमरण करते हैं। जन्म-मरण की अनादिकालीन संतति-परम्परा को समाप्त करने का एक मात्र यही अमोघ उपाय है कि पुरूषार्थ-पूर्वक हम मरण को मांगलिक बनावें।

तत्त्वार्थ सूत्र में "सुख-दुःख जीवितमरणोपग्रहाश्च" सूत्र में सुख-दुःख, जीवन-मरण को उपकारक कहा है। जीवन को उपकारक तो सभी मानते हैं परन्तु जैनाचार्यों ने मरण को भी उपकारक माना है। जो उपकारी है उस मरण को हम मांगलिक कैसे बनावें? मरण को मांगलिक बनाने की विस्तृत प्रक्रिया चरणानुयोग के कई ग्रन्थों में बताई गई है। जघन्य रूप से भी यदि एक बार समाधिमरण हो जावें तो जीव 7-8 भव से अधिक इस संसार में नहीं रहता है। उत्कृष्ट समाधिमरण करने वाला तो 2-3 भव में ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

जैसे किसान अच्छी फसल की प्राप्ति हेतु बीज बोने से पूर्व खेत में हल द्वारा जुताई करके जमीन को पोली करता है वैसे ही सल्लेखना भी कृशीकरण की प्रक्रिया है। अतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय, तप, त्याग और संयमादि गुणों के द्वारा चिरकाल तक आत्मा को भावित करने के बाद आयु के अंत में अनशनादि विशेष तपों के द्वारा शरीर को और श्रुतरूपी अमृत के आधार पर क्रोधादि कषायों को कृश करने की प्रक्रिया को सल्लेखना कहा जाता है।

इस पंचम काल में भावलिंगी सच्चे साधु नहीं होते हैं, इस भावना के

आधार पर परमपूज्य माताजी ने 32 वर्ष की अवस्था तक कोई दिगम्बर साधु को अपना सिर नहीं झुकाया था। परमपूज्य मुनि धर्मसागर जी एवं परमपूज्य मुनि सन्मति सागर जी (टोडा वाले) के साथ सप्रमाण आगम चर्चा एवं उनकी वीतराग चर्चा से माताजी के जीवन में सम्यक् प्रकाश की किरण प्रस्फुटित हुई। परमपूज्य माताजी के जीवन में मिथ्य-तम का नाश होने से आमूल परिवर्तन आया। उन्होंने शीघ्रातिशीघ्र आर्यिका व्रत ग्रहण किया।

आर्यिका व्रत ग्रहण करते ही, श्रुतरूपी सागर में गहरी डुबकी लगाने का अथक पुरूषार्थ किया। फलस्वरूप चारों अनुयोगों, वास्तु, ज्योतिष आदि का सर्वांगीण ज्ञान प्राप्त किया। तिलोयपणन्ती, त्रिलोकसार, योगसार, मरणकण्डिका आदि बड़े-बड़े ग्रंथों की हिन्दी टीका की, ग्रंथों के अन्तर्गत गणित आदि क्लिष्ट विषयों को खोलकर तालिका के माध्यम से उनको पूरा सरल कर दिया। निरन्तर ज्ञान-ज्ञान में रत होने के कारण परमपूज्य माताजी ज्यादा व्रत-उपवास आदि नहीं करती थीं। दूसरे तपधारियों को देखकर एवं सल्लेखना वालों को देखकर यही कहती थीं, अपने से ज्यादा व्रत-उपवास नहीं होता है, अपन तो अंतिम समय में ही सल्लेखना धारण कर समाधिमरण करेंगे।

जिनवाणी की अनवरत सेवा के साथ परमपूज्य माताजी ने संयम का बहुत दृढ़ता से पालन किया। उन्होंने जीवन में सिद्धान्त के साथ कभी समझौता नहीं किया। सन् 1981 में ऊपर से गिर जाने के कारण दोनों पैरों में फ्रेक्चर हो गया, फिर भी विहार के लिए अन्य कोई साधनों को उपयोग में नहीं लिया। परमपूज्य माताजी ने प्रत्येक कार्यों में पहले स्वयं को अनुशासित किया बाद में दूसरे पर अनुशासन किया। परमपूज्य माताजी की सत्प्रेरणा एवं समीचीन मार्गदर्शन से कई जीव आत्मकल्याण के मार्ग पर आरूढ़ हुए और कई जीवों ने अपना गृहस्थ धर्म प्रशस्त किया।

अपनी आत्मा की अंतरंग आवाज एवं बाह्य ज्योतिष आदि के माध्यम से परमपूज्य माताजी ने 60 वर्ष की वय में ही परम पूज्य आचार्य श्री अजितसागर जी महाराज श्री के परम पुनीत चरणों में बैठकर 12 वर्ष की सल्लेखना ग्रहण करने की भावना व्यक्त की। परमपूज्य आचार्य श्री ने कहा कि अभी तो मैं तुम से बड़ा हूँ, तुम इतनी छोटी अवस्था में जल्दी क्यों करती हो। फिर भी, परमपूज्य माताजी ने अपने पूरे संयमी जीवन की आलोचना बहुत सूक्ष्मरीत्या स्मृतिपटल पर लाकर विस्तृत रूप से की एवं 12 वर्ष की उत्कृष्ट सल्लेखना धारण की।

संयमी जीवन के सारभूत इस प्रतिज्ञा के साथ ही परमपूज्य माताजी ने नाना प्रकार के व्रत-अनशन ऊनोदर, रस परित्याग आदि बाह्य तपों से अपनी साधना प्रारम्भ की। धीरे-धीरे बेला, तेला आदि करते हुए बाह्य तप में वृद्धि की। अंतरंग तपों में प्रायश्चित आदि को लेकर ध्यान तप के प्रति विशेष लक्ष्य देकर उनको वृद्धिंगत किया। ध्यान तप में साधु परमेष्ठी अरिहंत परमेष्ठी आदि का अवलम्बन लेकर बड़ी अवगाहना वाले उन साधु परमेष्ठी के चरणों में ही मानों बैठकर रूपस्थ ध्यान दिया। पिंडस्थ ध्यान के माध्यम से अपनी आत्मा को कर्मरज से हल्का करने का पुरुषार्थ किया। ऋद्धिधारी मुनिराजों को स्मरण करते हुए अपनी आत्मा के साथ कृश शरीर को भी दृढ़ मजबूत बनाया। इस प्रकार बिना निर्यापकाचार्य की उपस्थिति के परमपूज्य माताजी ने आगम ज्ञान, गुरूजनों के आशीर्वाद साहस एवं धैर्यपूर्वक अपनी सल्लेखना की साधना के 11 वर्ष शरीर और कषाय को कृश करते हुए व्यतीत किया।

अंतिम लगभग 13 माह पूर्व परम पूज्य निर्यापक आचार्य श्री वर्द्धमानसागर जी महाराज ससंघ परमपूज्य माताजी की समाधि हेतु नन्दनवन-धरियावद पधारे। परमपूज्य आचार्य श्री के श्रीमुख से स्तोत्र पाठ आदि, नियमसार, योगसार आदि ग्रंथों का स्वाध्याय एवं मंगल उद्‌बोधन परमपूज्य माताजी को प्रायः प्रतिदिन प्राप्त हुआ। अभी भी जिनवाणी की सेवा में लेखनी चालू थी। इस समय समाधिमरण की प्रेक्टिकल साधना के साथ परमपूज्य माताजी ने मरण कण्डिका ग्रंथ की प्रश्नोत्तरी टीका लिखी। यह टीका प्रतिसमय परमपूज्य माताजी को परिणामों को विशुद्ध बनाने के लिए अत्यन्त सहयोगी बनी। स्वयं साक्षात् अनुभव के साथ परमपूज्य माताजी ने उनको लेखनी में निबद्ध किया। समाधि के 1½ माह पूर्व लेखनी बंद हुई। स्वयं की मृत्यु महोत्सव के लिए स्वयं अपने संबोधन हेतु अत्यन्त उत्साहपूर्वक आध्यात्मिक भजनों की रचना की। अंतिम समय में शरीर की अत्यन्त कृशता थी, फिर भी घंटों आसन से ध्यान में बैठी रहती थी। रात्रि में 1.00 बजे से 5.00 बजे तक ध्यान की विशेष साधना चलती थी। परमपूज्य माताजी हमेशा यही कहती थी कि देव पर्याय में जाकर समवशरण में जाकर भगवान की दिव्यध्वनि को श्रवण करूँगी और जिन-जिन महामुनिराजों ने समाधि धारण की होगी वहाँ जाकर उनके दर्शन-वैयावृत्ति में सहयोगी बनूँगी । इस समय शरीर की कृशता के साथ आत्मिक शक्ति वृद्धिंगत हो रही थी।

जब से उन्होंने समाधि ग्रहण की थी, तब से परम पूज्य माताजी की

उत्कृट भावना थी कि मेरी समाधि में मेरे से ज्येष्ठ आर्यिका अवश्य होनी चाहिए। भावना के अनुरूप 22 दिन पूर्व परमपूज्य आर्यिकारत्न सुपार्श्वमती माताजी सल्लेखना के अवसर पर नन्दनवन में पधारीं। परमपूज्य आचार्य श्री एवं परमपूज्य माताजी के संबोधन से परमपूज्य विशुद्धमती माताजी ने अपने परिणामों को अत्यन्त विशुद्ध करते हुए धीरे-धीरे सब वस्तुओं का त्याग किया। 16 जनवरी सन् 2002 को उन्होंने अंतिम जल ग्रहण किया। उस दिन अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक आधा घंटा उपदेश दिया। मरण की अत्यन्त सन्निकटता को जानकर भी मरण से किंचित् भी भय नहीं ? यही सम्यक्दृष्टि-संयमी जीवों की महानता है। 22 जनवरी प्रात 4.29 पर परमपूज्य आचार्य श्री परमपूज्य मुनिराज एवं परमपूज्य माताजी के मुख से पंचपरमेष्ठी मंत्र का श्रवण करते हुए परमपूज्य विशुद्धमती माताजी ने अपनी संयम की साधना को सफल बनाया।

परमपूज्य विशुद्धमती माताजी के परम पुनीत चरणों में कोटिशः बारम्बार वंदामिकर श्रद्धांजलि समर्पित करती हुई यही भावना भाती हूँ कि आप शीघ्रातिशीघ्र अपनी आत्मा का कल्याण करते हुए मुक्तिलाभ प्राप्त करें। आप स्पष्टवक्ता थी। आपके अंतरंग में कभी भी किसी के प्रति दुर्भावना नहीं रहती थी, जो मन में आया वह कह देने से उनका अंतरंग साफ था। ऐसी परम पूज्य माताजी के पदचिह्नों पर चलकर उनके बताये हुए मार्ग पर आगे बढ़कर दृढ़ता पूर्वक संयम का पालन करती हुई मैं भी आत्मकल्याण की साधना को सफल बनाऊँ ऐसे आशीर्वाद की आकांक्षी।

—आ. प्रशान्तमति

पूज्य १०५ आर्यिका श्री विशुद्धमती माताजी
(संक्षिप्त परिचय)

पैतृक संस्कार मनुष्य के जीवन पर अपनी अमिट छाप छोड़ते हैं। सच्ची लगन, दृढ़ संकल्प और कठोर परिश्रम के द्वारा अचिंतनीय सफलताएँ प्राप्त की जा सकती हैं, और सन्तों की चरणरज का संस्पर्श पारसमणि के स्पर्श का प्रभाव रखता है। इन तीनों संयोगों का प्रतिफल एक व्यक्तित्व में यदि देखना हो तो, पूज्य **आर्यिका विशुद्धमती माताजी** के व्यक्तित्व में वह साक्षात् देखा जा सकता था।

मध्यप्रदेश में जबलपुर जिले के रीठी नामक छोटे से ग्राम में चैत्र शुक्ला तृतीया संवत् १९८६, तदनुसार १२ अप्रैल १९२९ को समताभावी और सदाचारी सद्गृहस्थ श्री लक्ष्मणलाल सिंघई के यहाँ, पाँचवीं सन्तान के रूप में जब एक बालिका का जन्म हुआ तब, घर और बाहर किसी को भी यह कल्पना तक नहीं थी कि एक दिन यह बालिका अगाध आगम ज्ञान प्राप्त करके, कठोर तप की साधना करती हुई, स्व-पर कल्याण के पथ पर आरूढ़ अपनी पर्याय की उत्कृष्ट उपलब्धि अर्जित करेगी।

इस शताब्दी के पाँच दशकों तक उत्तम श्रावक धर्म का मार्गदर्शन करने वाले प्रसिद्ध संत श्री गणेशप्रसादजी वर्णी के निकट सम्पर्क से संस्कारित, धार्मिक परम्पराओं वाले घर में, अत्यन्त सरल और धर्मभीरु जननी की गोद में पलने के कारण, छुटपन से सदाचार और दया-धर्म के संस्कार, घर के सभी बच्चों की तरह, सुमित्रा को भी सहज ही प्राप्त हुए थे। थोड़ा स्कूली और थोड़ा घरू शिक्षण भी मिला। छहढाला के मर्मज्ञ पिता के पास अपनी संतान को देने के लिए उत्तम संस्कार ही सबसे बड़ी सम्पत्ति थी।

विद्यार्थी अवस्था में कोई विलक्षणता, कोई अतिशय सुमित्रा में परिलक्षित नहीं हुआ। सामान्य बालिकाओं की तरह, पन्द्रहवाँ वर्ष पूरा करने के पूर्व ही, समीपी ग्राम बाकल के एक सामान्य घर की वधू बनकर उसे अपना गार्हस्थ जीवन प्रारम्भ करना पड़ा। उस समय दैव का दुर्विपाक,

अपनी पूरी तीव्रता के साथ, एक के बाद एक आक्रमण उस पर कर रहा था। १३ वर्ष की अवस्था में उसे पितृवियोग सहन करना पड़ा था, विवाह के तुरन्त बाद सन् १९४४ में माता का वियोग हुआ और विवाह के डेढ़ वर्ष के भीतर ही वैधव्य के क्रूर आघात ने उस अबोध बालिका के साहस और धैर्य के सम्बल को जैसे आमूल हिलाकर रख दिया।

समान वय और समान बुद्धि वाले हम सभी भाई-बहिनों के बीच, उस दुर्दिन में कोई किसी को सान्त्वना या सहारा देने योग्य नहीं था। परिस्थितियों से जूझने की हिम्मत विरासत में मिली थी और भाग्य का सहारा एक मात्र अवलम्ब था। वही सम्बल लेकर हमने अपनी बाल विधवा बहिन को, उसी की इच्छानुसार, शिक्षित बनाने का संकल्प किया और बिना समय गँवाए, तत्काल प्रायमरी की परीक्षा के लए तैयारी प्रारम्भ कर दी।

जीवन के नये मोड़

यह हमारा अनुभूत यथार्थ है कि मनुष्य यदि हताश न हो जाए तो विपदा के समय उसकी शक्ति और साहस कई गुना होकर उसका साथ देते हैं। धीरज किसी भी विपत्ति से उबरने का कारगर उपाय है। **'धीरास्तरन्ति विपदां न तु दीनचित्ता:'**। सुमित्रा ने उस समय उन्हीं उपायों का सहारा लिया।

यौवन के द्वार पर उस सुकुमार किशोरी ने, वैधव्य का वह अभिशाप, पूर्वोपार्जित कर्म की अटल परिणति मानकर साहस से सहा। अतीत के संकल्प और अनागत के विकल्प छोड़कर, वर्तमान को सँवारने में उसने अपना सारा पुरुषार्थ नियोजित कर लिया। फलत: दो माह की पढ़ाई में भी प्रायमरी की परीक्षा अच्छे नम्बरों से पास की। मिडिल का त्रिवर्षीय पाठ्यक्रम दो वर्ष में पूरा किया और नार्मल ट्रेनिंग में उत्तीर्ण होकर अध्यापन की अर्हता प्राप्त की। बम्बई में एक वर्ष प्रशिक्षण लेकर सागर के उसी जैन महिलाश्रम में, जिसमें एक दिन उसकी शिक्षा का श्रीगणेश हुआ था, अध्यापिका बनकर सुमित्रा ने दूसरों के लिए ज्ञान-दान का अनुष्ठान प्रारम्भ कर दिया।

दिगम्बर जैन महिलाश्रम सागर में प्रधानाध्यापिका पद पर बारह वर्ष का सेवाकाल, सुमित्राजी के अपने व्यक्तित्व के निर्माण का काल भी कहा जा सकता है। इस बीच भाषा और साहित्य का विशेष अध्ययन करके उन्होंने 'साहित्य-रत्न' और 'विद्यालंकार' आदि उपाधियाँ अर्जित कीं। मूर्धन्य विद्वान् पंडित पन्नालालजी साहित्याचार्य ने पुत्रीवत् स्नेह देकर उन्हें शास्त्री पर्यन्त आगमज्ञान की विपुल सम्पदा प्रदान की। गुरु ऐसे कि जाड़ा हो या बरसात प्रातः पाँच बजे महिलाश्रम के द्वार पर उनका पदार्पण सूर्योदय की तरह सुनिश्चित होता था। शिष्या ऐसी कि पाठ पूरा किये बिना कभी सोती नहीं थी। छात्रावास के नियमों के अनुसार रात में जब बिजली बन्द कर दी जाती तब भोजन के साथ मिलने वाले घृत को दीपक में जलाकर पढ़ाई पूरी की जाती, पर अध्ययन में व्यवधान उसने कभी आने नहीं दिया।

इस ज्ञानाराधना के फलस्वरूप सुमित्राजी के जीवन की धार ही बदलने लगी। धर्म साधना और प्रभावना के कार्यों में उनका अधिक समय जाने लगा। बिहार, बंगाल और आसाम तक धर्मोपदेश के लिए उनकी यात्राएँ होने लगीं। उन्हीं के सद्प्रयासों से महिलाश्रम में श्री पार्श्वनाथ जिन चैत्यालय की स्थापना हुई। इसी अवधि में संस्था की नौकरी सम्बन्धी औपचारिकताओं ने उन्हें अनुशासन सिखाया और अणुव्रतों के अभ्यास ने आत्म-निग्रह का प्रथम पाठ पढ़ाया। अध्यापन और शिक्षण की इस अवधि में भाइयों-भाभियों के आदर भरे स्नेहिल व्यवहार ने उन्हें जीवन की सामान्य आकुलताएँ और संक्लेश कभी व्यापने नहीं दिये।

विराग का बीजारोपण

इन सारी अनुकूलताओं के बीच सुमित्रा जी के जीवन का परिष्कार करने में, प्रारम्भिक प्रोत्साहन के रूप में, **पूज्य क्षुल्लक श्री गणेशप्रसादजी वर्णी** का प्रत्यक्ष सम्पर्क सर्वाधिक कार्यकारी रहा। वर्णीजी के अंतिम दिनों में पाँच-छह वर्षों तक, प्रतिवर्ष उन्होंने नियमित रूप से ईसरी पहुँचकर संत-समागम के अनेक दुर्लभ अवसर प्राप्त किये। पैतृक संस्कारों के रूप में व्यक्तित्व पर वर्णीजी का जो प्रभाव था, इन साक्षात् सम्पर्कों से उसका विरागी रंग, मानस पटल पर सहज ही रचता चला गया।

सन् १९६१ में वर्णीजी की सल्लेखना के दृश्यों ने उस रंग को बहुत गाढ़ा बनाकर स्थायित्व दे दिया। परन्तु मन विराग से ओतप्रोत हो जाने के बावजूद भी, चारित्र के पथ पर आगे कदम बढ़ाने का साहस सुमित्राजी के मन में जुट नहीं पा रहा था।

वर्णीजी के बाद बुन्देलखण्ड में गृहत्याग का एक भी उदाहरण सामने दिखाई नहीं दे रहा था। अतः देशकाल की विषमताएँ, और नारी पर्याय की विवशताएँ, मन के उत्साह को बार-बार खण्डित कर जाती थीं। तभी एक दुर्लभ संयोग अनायास प्राप्त हो गया। **पूज्य मुनिश्री धर्मसागरजी महाराज** (जो बाद में आचार्य बने) का अगले ही वर्ष सागर में चातुर्मास हुआ। मुनिश्री की निरपेक्ष वृत्ति और परम शान्त स्वभाव ने मोक्ष-मार्ग की अभिलाषिनी इस भव्य आत्मा को आकर्षित किया। संघस्थ **मुनिराज पूज्यश्री सन्मतिसागरजी** के मार्मिक सम्बोधनों-उद्‌बोधनों ने मन के सारे भय भगाकर उनके लिए अभय के आश्वासन प्रदान कर दिये।

हृदय में वर्षों से पड़ा हुआ वैराग्य का बीज, 'धर्म' की ऊष्मा और 'सन्मति' की शीतलता पाकर, उसी पावस में अंकुरित हो उठा। एक दिन शुभ बेला में महिलाश्रम की उस 'प्रधानाध्यपिका' ने सारी अर्जित उपाधियों का विसर्जन करके 'आर्यिका' बनने का संकल्प कर लिया और उसके मंगलाचरण के रूप में आचार्यश्री से सप्तम प्रतिमा के व्रत ग्रहण कर लिये।

साहू शरणं पव्वजामि

विक्रम संवत् २०२१ की श्रावण शुक्ला सप्तमी, तदनुसार १४ अगस्त १९६४ को वह श्रेयस्कर काल-लब्धि प्राप्त हुई जब चारित्र-चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर के द्वितीय पट्टाचार्य, चारित्र-शिरोमणि **आचार्य शिवसागरजी** ने अतिशय क्षेत्र पपौरा के प्रांगण में, ब्रह्मचारिणी सुमित्राजी को आर्यिका दीक्षा प्रदान करके अपने संघ में प्रवेश दिया। उस समय वहाँ उपस्थित भारी जन समुदाय ने 'विशुद्धमती माताजी' के नाम से इस नवीन रूप में उनका अभिवादन तथा जय-जयकार किया।

कई लोगों की स्मृति के अनुसार बुन्देलखण्ड में बड़े अन्तराल के बाद यह प्रथम दीक्षा हुई थी। उसे बड़े साहस का काम कहा गया और सारे प्रदेश में इससे महती धर्म प्रभावना हुई। पपौरा में चार मास तक मेला सा लगा रहा। सैकड़ों-स्त्री-पुरुषों ने वहाँ अपनी शक्ति के अनुसार व्रत-नियम धारण किये।

उस समय आचार्य शिवसागर जी का संघ चार मुनिराजों और पाँच आर्यिका माताओं का छोटा सा निर्दोष संघ था। देशभर में उसे आदर्श मुनिसंघ माना जाता था। संघ में किसी प्रकार का कोई आडम्बर दिखाई नहीं देता था। तेरह या बीस पंथ का कोई आग्रह नहीं था। धातु की एक प्रतिमा अवश्य साथ में रहती थी, जिसे विराजमान करके पंचामृत अभिषेक आदि के विधि-विधान संघ में होते रहते थे। स्थानीय किसी मन्दिर में उनके लिए हठ या प्रेरणा कोई साधु नहीं करते थे।

विहार में संघ के साथ कोई बड़ा ताम-झाम, वाहन या परिग्रह नहीं चलता था। न तो किसी तीर्थ या मंदिर के बहाने चन्दा एकत्र करने की व्याधि संघ में कभी रही और न ही ग्रन्थ-प्रकाशन आदि का कोई आग्रह रहा। डोली, व्हील-चेयर और रावटी आदि का उपयोग कोई पिच्छीधारी, मुनि या आर्यिका, नहीं कर सकते थे। सूर्यास्त से सूर्योदय तक सब मौन रहते थे। आचार्यश्री के प्रति सबके मन में अपार भक्ति थी और उनके कठोर अनुशासन का सबके मन पर आंतक रहता था। आचार्यश्री शिवसागरजी का अनुशासन जैसा कठोर था, उनकी करुणा और वात्सल्य भावना वैसी ही अपरम्पार थी।

स्मरणीय चौमासा

पपौरा के उस चातुर्मास में यह देखने को मिला कि आचार्य शिवसागरजी के तत्त्वावधान में निरन्तर ज्ञान-ध्यान और तप की ही साधना चलती रहती थी। सिद्धान्त के पारगामी विद्वान् के रूप में पूज्यश्री श्रुतसागर जी मुनिराज और अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी साधु के रूप में पूज्यश्री अजितसागरजी मुनिराज की विशेष ख्याति थी।

उस चातुर्मास की विशेषता रही कि अनेक त्यागी, ब्रह्मचारी, विद्वान और विदुषी, जिज्ञासु और वक्ता, संघ के दर्शन के लिए आते रहते थे। स्व. ब्र. श्रीलालजी, ब्र. बाबू सुरेन्द्रनाथ जी, ब्र. रतनचन्द्रजी मुख्तार, तथा ब्र. प्यारेलालजी भगत, बाबा लाड़मलजी आदि त्यागियों और सिद्धान्ताचार्य पंडित कैलाशचन्दजी, साहित्याचार्य पंडित पन्नालालजी, न्यायाचार्य पंडित दरबारीलाल जी कोठिया आदि विद्वानों तथा पंडिता सुमतिबाई. शहा और बहिन विद्युल्लता शहा आदि विदुषी बहिनों का अच्छा समागम उस चातुर्मास में होता रहा। ब्र. विद्युल्लता शहा की माताश्री पूज्य आर्यिका चन्द्रमती माताजी संघ की वरिष्ठ आर्यिका थीं। संघ की प्रसिद्धि और प्रभावना का यह हाल था कि उन दिनों मुनियों के प्रति अनेक प्रकार की भ्रांति और निर्मूल धारणाएँ पालने वाले अनेक ज्ञान-पिपासु जन भी स्वयं संघ के सम्पर्क में आए, उन्होंने अपनी धारणाओं में सुधार किया।

थिरता की परीक्षा और शास्त्राभ्यास

दीक्षाके उपरान्त विशुद्धमती माताजी की आस्था और साहस की कड़ी परीक्षा कर्म के विपाक से होती रही। पहले ही दिन से उन्हें भोजन में अन्तराय आना प्रारम्भ हुए जो, श्रावकों की हजार सावधानियों के बाद भी, किसी रहस्य की तरह, वर्षों तक उनके आहार में बाधक बनते रहे। सप्ताह में कभी-कभी एक बार भी निरन्तराय आहार नहीं हो पाता था। शरीर अत्यन्त अशक्त और शिथिल हो गया। रक्ताल्पता के कारण इन्द्रियाँ शिथिल पड़ने लगीं। पर इससे माताजी की संकल्प-शक्ति तनिक भी कम्पित नहीं हुई। उनका आत्मबल वैसा ही अडोल बना रहा। पूज्य आचार्यश्री उनकी शारीरिक दशा के प्रति चिन्तित हो उठे। उन्हें कभी किसी मंत्र-तंत्र की- चर्चा करते भी न सुना होगा, पर एक दिन उन्होंने इस उपद्रव के निवारणार्थ माताजी को वृहद्-शान्तिमंत्र की एक माला रोज फेरने का परामर्श दिया।

जीन की वह प्रथम और अंतिम गुरु-आज्ञा थी जिसका पालन करने से माताजी ने सविनय परन्तु बड़ी दृढ़तापूर्वक मना कर दिया। उनका उत्तर बहुत तर्कसंगत था कि 'क्या यह पद लेकर रोटी के लिए अनुष्ठान करना

योग्य होगा ?' आचार्यश्री ने उनके परिणामों की दृढ़ता को बार-बार सराहा। उदय की तीव्रता व्यतीत होते ही कालान्तर में वह उपद्रव स्वतः शान्त हो गया।

दीक्षित होते ही संघ की परिपाटी के अनुसार माताजी का नियमित शास्त्राभ्यास प्रारम्भ हुआ। पूज्य श्रुतसागरजी महाराज ने जैन सिद्धान्त के उनके ज्ञान की वृद्धि के निरन्तर प्रयास किए। पूज्य अजितसागर जी महाराज ने उन्हें न्याय और व्याकरण शास्त्रों का अध्ययन कराया। गणित के अभ्यास में षट्खण्डागम सिद्धान्त के स्वाध्याय में ब्र. रतनचन्द जी मुख्तार सहायक हुए। अद्भुत लगन और अथक परिश्रम के बल पर माताजी ने शीघ्र अच्छा ज्ञानार्जन कर लिया। उसी अनुरूप उनका क्षयोपशम भी बढ़ता गया।

साहित्य-सृजन की ओर

जैन आगम की दार्शनिक और सैद्धांतिक सूझ-बूझ प्राप्त होते ही माताजी ने आचार्य महाराज के आदेश से साहित्य-सृजन के रूप में जिनवाणी की सेवा का प्रयास प्रारम्भ कर दिया। इस दिशा में उन्हें महान् सफलताएँ मिली हैं। अनेक छोटी-बड़ी जनोपयोगी रचनाएँ प्रस्तुत करने के बाद उन्होंने आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'त्रिलोक-सार' की हिन्दी टीका का कार्य अत्यन्त सराहनीय सफलता के साथ परिपूर्ण किया। ग्रन्थ में विषय को समझाने के लिए माताजी ने उसमें जो संदृष्टियाँ जोड़ी हैं उनसे उनकी विलक्षण प्रतिभा की झलक मिलती है। उसके पश्चात् भट्टारक सकलकीर्ति आचार्य विरचित अप्रकाशित 'सिद्धान्तसार दीपक', अपर नाम 'त्रिलोकसार दीपक' का वैसा ही भाषानुवाद प्रस्तुत करके माताजी ने लोकानुयोग का विषय स्पष्ट करने वाले लगभग चार हजार संस्कृत श्लोकों का वह संकलन सर्वप्रथम स्वाध्याय के लिए उपलब्ध कराया है।

ऐसा लगता है कि जिनवाणी की सेवा ही विशुद्धमती माताजी का जीवनव्रत हो गया था। स्वास्थ्य की बाधाओं के बावजूद, इन दो ग्रन्थों का कार्य समाप्त करके, बिना समय खोए उन्होंने पूज्य यतिवृषभाचार्य की लोकोत्तर कृति 'तिलोय-पण्णत्ति' के भाषानुवाद का कठिन कार्य हाथ

में लिया। कार्यारम्भ करने पर, पूर्व प्रकाशित प्रति में गाथाओं की अशुद्धियों और कई अपूर्णताओं पर जब ध्यान गया तब कार्य की दुरूहता का सही अनुमान हुआ। इस कठिनाई ने माताजी के संकल्प को और बल प्रदान किया, अतः प्राचीन कन्नड़ी प्रतियों पर से पाठभेद लेने और गाथाओं को अर्थसंगति के अनुसार शुद्ध करने का क्रम निर्धारित किया गया।

मूडबिद्री के भट्टारक ज्ञानयोगी चारुकीर्ति स्वामीजी के भण्डार की एक प्राचीन प्रति के आधार पर पाठ-भेद लिये गए और गाथाएँ शुद्ध की गईं परन्तु वह प्रति अशुद्ध होने से यह संशोधन भी अधूरा रहता लगा। तभी श्री जैनमठ श्रवणबेलगोला के कर्मनिष्ठ, सौम्य-स्वभावी भट्टारक, कर्मयोगी श्रीचारुकीर्ति स्वामीजी की कृपा उपलब्ध हो गई। उनके भण्डार में सं. १२६६ की एक कन्नड़ प्रति ऐसी प्राप्त हुई जिसके आधार पर ग्रन्थ में पहले से छूटी हुई सैकड़ों गाथाओं का यथास्थान समावेश किया जा सका। कर्मयोगी भट्टारक स्वामीजी ने श्री पं. देवकुमार जी शास्त्री द्वारा पूरी प्रति का जो नागरी लिप्यंतर कराकर भिजवाया वह बहुत ही सहायक हुआ।

तिलोय-पण्णत्ति के इस अनुवाद और सम्पादन के लिए पूज्य माताजी ने स्वयं भी कन्नड़ का कुछ अभ्यास किया और पाँच वर्षों के अथक परिश्रम से इस ग्रन्थराज की टीका और सम्पादन का कार्य समाप्त किया। विद्वानों का कथन है कि माताजी के द्वारा आगम की यह एक महान् और ऐतिहासिक सेवा हुई है। लगभग दस हजार गाथाओं का यह वृहद् ग्रन्थ तीन खण्डों में प्रकाशित हो चुका है। प्रथम खण्ड का विमोचन जुलाई ८४ में भीण्डर में तथा द्वितीय खण्ड का अप्रैल ८६ में सलुम्बर में सम्पन्न हुआ था। अन्तिम तृतीय खण्ड का लेखन-कार्य बसंतपंचमी १३.०२.८६ को समाप्त हुआ और १७.०४.८८ को भीण्डर में उसका भी विमोचन हो गया। देश-विदेश में इस ग्रन्थ का भारी स्वागत हुआ है।

इस ग्रन्थराज के कार्य में दोनों भट्टारक स्वामियों के साथ-साथ श्रीमान् पं. पन्नालालजी साहित्याचार्य सागर, डॉ. प्रो. लक्ष्मीचन्दजी जैन

जबलपुर, प्रो. उदयचन्द जी उदयपुर, डॉ. चेतनप्रकाशजी पाटनी जोधपुर आदि अनेक महानुभावों का विशेष सहयोग रहा। ग्रन्थ का अधिकांश कार्य उदयपुर में ही सम्पन्न हुआ। जिसमें उदयपुर की समाज का विशेषतः श्री महावीर जी मिण्डा और श्री शान्तिलाल जी भोजन के परिवारों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। ग्रन्थ के प्रकाशन में महासभा के अध्यक्ष श्री निर्मल कुमार जी सेठी तथा उनके कुछ साथियों का द्रव्य सार्थक हुआ है।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती द्वारा मोहनीय कर्म की क्षपणा का विशेष वर्णन करने के लिए लिखे गये महान् ग्रंथ क्षपणासार की टीका माताजी ने पूज्य आचार्य अजितसागरजी महाराज की प्रेरणा से की। समाधि-साधना के काल में ही शारीरिक स्थिति अनुकूल न होने पर भी माता-जी ने अपने उपयोग की दृढ़ता से पूज्य अमितगति निस्संगयोगिराज के महान् ग्रंथ **योगसार प्राभृत** की प्रश्नोत्तर रूप में टीका की है जिसका प्रकाशन श्रुतोदय ट्रस्ट श्री क्षेत्र सिद्धान्त तीर्थ नन्दनवन से हुआ है। ग्रन्थ का विमोचन ३१ दिसम्बर २००१ को नन्दनवन में हुआ। सल्लेखना के दसवें-ग्यारहवें वर्ष में 'मरणकण्डिका' ग्रंथ की वृहत् टीका माताजी ने पूर्ण की है।

बीच-बीच में माताजी मौलिक रचनायें भी करती रही हैं जो ट्रेक्ट के रूप में प्रकाशित हुई हैं। प्रश्नोत्तर के रूप में भी उन्होंने धर्मप्रवेशिका, छहढाला, इष्टोपदेश आदि पुस्तकें लिखी हैं जो प्रशिक्षण शिविरों में अध्यापन के लिए विशेष उपयोगी हो रही हैं।

अपनी सम्पादन-कला के माध्यम से भी माताजी ने बहुमूल्य साहित्य समाज को दिया है। उसमें वत्थुविज्जा, श्रमणचर्या, समाधिदीपक, प्रतिक्रमण पाठ आदि प्रमुख हैं।

जिनवाणी की ऐसी महती सेवा बिरले ही व्यक्तियों के द्वारा हो पाती है। पूज्य माता विशुद्धमतीजी उन भाग्यशाली जनों में से हैं जिन्होंने आगम ज्ञान के उस अथाह सागर में गोता लगाकर उसके मणि-माणिक्य चुने हैं और उन्हें विद्वज्जनों तक पहुँचाने का सफल पुरुषार्थ किया है।

समाधि की ओर

पूरी तरह स्वस्थ और जागरूक रहते हुए भी शरीर की क्षणभंगुरता, नेत्रज्योति-क्षीणता की आशंका और व्रती जीवन की सार्थकता समाधि-मरण को ध्यान में रखकर पूज्य माताजी ने १६ जनवरी १९९० को पूज्य आचार्य अजितसागरजी महाराज के समक्ष बारह वर्ष की उत्कृष्ट सल्लेखना का संकल्प व्यक्त करके उनसे सल्लेखना व्रत की याचना की थी। आचार्य महाराज ने इस महान् संकल्प के लिए माताजी को आशीर्वाद देकर सल्लेखना का नियम दिया था।

कुछ समय बाद ही आचार्य अजितसागर जी की समाधि हो जाने से नवीन आचार्य वर्धमानसागर जी महाराज ने, माताजी की सल्लेखना हेतु निर्यापकाचार्य का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया था। इस व्रत की निर्विघ्न पूर्णता के लिये माताजी ने क्रमशः अपने मन को दृढ़ और शरीर को कृश करना प्रारंभ कर दिया।

आहार में रसों की अल्पता हो गई, उपवास अधिक होने लगे। वर्ष १९९८ का चातुर्मास प्रारंभ होने पर एक दिन के अन्तर से आहार लेना प्रारंभ कर दिया। वर्ष २००० का चातुर्मास प्रारंभ होने पर साधना और बढ़ी, दो दिन के अन्तर से आहार को उठने लगीं। आषाढ़ शुक्ला सप्तमी २७-६-२००१ को माताजी ने गेहूँ, दाल आदि अनाजों का त्याग कर दिया, अनाज में केवल चावल आहार में रहा।

श्रावण शुक्ला सप्तमी २७.७.२००१ के भगवान पार्श्वनाथ के मोक्ष कल्याणक दिवस और अपने ३८ वें दीक्षा दिवस के अवसर पर माताजी ने पूज्य आचार्य वर्धमानसागरजी और समस्त संघ के समक्ष सबसे क्षमा-याचना के साथ सभी प्रकार के अनाज का जीवन पर्यन्त के लिये त्याग कर दिया। आचार्य महाराज ने इस त्याग की अनुमति देते हुए निर्विघ्न समाधि के लिये आशीर्वाद दिया। दो दिन के अन्तर से होने वाले उनके आहार में दूध, छाछ और केला आदि कुछ फल ही रहे।

तीन माह के भीतर क्रमशः केला, दूध फिर छाछ का भी त्याग

किया। एक दिसम्बर २००१ को माताजी ने पूज्य आचार्य वर्धमानसागरजी एवं समस्त संघ की उपस्थिति में आचार्यश्री से अनुमति और आशीर्वाद लेकर शैया ग्रहण का अनुष्ठान किया। अब आहार में मौसम्मी का रस और जल मात्र लेने का निर्णय किया। तीन जनवरी २००२ को रस का भी त्याग करके २-३ दिन के अंतर से मात्र जल ग्रहण की प्रक्रिया अपनाई।

१६ जनवरी २००२ को बारहवर्षीय सल्लेखना-अवधि पूर्ण होने पर माताजी ने जल का भी जीवन पर्यन्त के लिये त्याग कर दिया। इस प्रकार उन्होंने अपनी कठोर संयम साधना से उत्कृष्ट समाधि सल्लेखना का अप्रतिम उदाहरण प्रस्तुत किया।

माताजी ने श्रुतलेखन का जो कार्य दीक्षा के ४-५ वर्ष बाद प्रारंभ किया था वह साधना-काल में भी ३० नवम्बर २००१ की रात्रि तक अनवरत चलता रहा। इस बीच उन्होंने आत्मचिंतन के रूप में प्रतिदिन अपनी डायरी में जो बिन्दु लिखे हैं वे उनके उत्कृष्ट आत्मचिंतन के प्रतीक तो हैं ही, अन्य साधकों के लिये प्रेरणा देने वाले भी हैं। कुछ अच्छे आध्यात्मिक और समाधि-साधना से संबंधित भजन भी उन्होंने अंतिम दो माह के बीच लिखे हैं। माताजी के अनन्य भक्त श्री अशोक गोधा उदयपुर ने माताजी के भजनों को टेप कैसिटों के माध्यम से और चिंतन बिन्दुओं को कम्प्यूटरीकृत करके सुरक्षित किया है।

माताजी के संक्षिप्त प्रवचन भी जलत्याग के पूर्व तक होते रहे हैं। ३ जनवरी, १४ जनवरी और १६ जनवरी को उन्होंने जो अंतिम उपदेश दिये हैं वे अत्यंत प्रेरणास्पद हैं।

सम्पन्न हुई समाधि

जलत्याग के अनन्तर छह दिन की कठोर साधना के बाद माताजी ने २२ जनवरी २००२ को प्रातः साढ़े चार बजे ब्रह्ममुहूर्त में आचार्य महाराज और गणिनी आर्यिका सुपार्श्वमतीजी से पंच नमस्कार मंत्र सुनते हुए अंतिम सांस लेकर अपने संयमी जीवन के पुण्य भवन पर उत्तुंग शिखर का निर्माण कर लिया जो अपने आप में एक अनोखा उदाहरण है।

भक्तों ने चन्दन की पालकी पर उनकी देह विराजित करके शोभा यात्रा निकाली और पूर्वाह्न में नन्दनवन परिसर में ही पहले से बनाये गये एक चबूतरे पर चन्दन, कपूर और हजारों नारियलों से सज्जित चिंता पर विराजमान देह अग्नि को समर्पित कर दी।

भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा के अध्यक्ष माननीय निर्मलकुमारजी सेठी के साथ माताजी की गृहस्थावस्था के हम दोनों भाइयों और माताजी के प्रति पूर्ण रूप से समर्पित उनके मानस पुत्र पंडित हँसमुखजी ने अग्नि-संस्कार किया। इस अवसर पर माननीय सेठीजी के अतिरिक्त श्री रूपचन्दजी कटारिया दिल्ली, श्री पंचोली मुम्बई, श्री हुकमीचंदजी पांडिचेरी और गौहाटी, जयपुर, उदयपुर, बाँसवाड़ा, भावनगर के साथ ही आसपास के प्रायः सभी स्थानों और धरियावद के लगभग दस हजार श्रावक-श्राविकाओं ने जयकारों के साथ माताजी को अंतिम विदाई दी। नन्दनवन में उस समय जहाँ मृत्यु महोत्सव का उत्सव जैसा माहौल था, वहीं कुछ आर्यिका माताओं और श्रावकों के आँसू भी नहीं रुक पा रहे थे।

सल्लेखना में सहायक

पूज्य विशुद्धमती माताजी ऐसी भाग्यवान साधक हैं कि उन्हें अपने व्रती जीवन में चार आचार्यों का क्रमशः पू. शिवसागरजी, पू. धर्मसागरजी, पू. अजितसागरजी एवं पू. वर्धमानसागरजी और आचार्यकल्प श्रुतसागरजी का संरक्षण एवं मार्गदर्शन मिला है जिससे संयम-साधना और समाधि की भावना दृढ़ हुई। वात्सल्यमूर्ति आचार्य वर्धमानसागरजी समाधि के लिये उनके निर्यापकाचार्य थे।

उन्होंने और उनके संघस्थ मुनिराजों एवं आर्यिका माताओं ने पिछले एक वर्ष में और कुछ ने डेढ़ वर्ष में माताजी की समाधि-साधना में अपने संबोधन, सेवा-सम्हाल, वैयावृत्ति के द्वारा जो वात्सल्यपूर्ण सहयोग दिया वह अप्रतिम है। इनमें पूज्य मुनिश्री पुण्यसागरजी, चिन्मयसागरजी, अर्पितसागरजी एवं पूज्य आर्यिका शीतलमतीजी, दयामतीजी एवं वर्धितमतीजी ने तो अथक परिश्रम किया।

वर्ष १९८२ में पंकज नाम की एक बालिका जिसे एम.एस-सी की डिग्री मिलने पर बैंक की सर्विस भी मिल गई थी, सर्विस छोड़कर माताजी के पास अध्ययन के लिये आई। माताजी से उसे ज्ञान और संयम की शिक्षा मिली। फलस्वरूप उसने १९८६ में महावीर जयंती के शुभ अवसर पर पूज्य आचार्य धर्मसागरजी के सुशिष्य मुनिश्री दयासागरजी, अभिनन्दनसागरजी से सलुम्बर में माताजी के सान्निध्य में आर्यिका दीक्षा ग्रहण कर ली। वे पूज्य आर्यिका प्रशान्तमती जी तभी से छाया की तरह माताजी के साथ रहकर उनकी सेवा करती रही हैं। सल्लेखना काल में तो उन्हें पल भर भी माताजी से विलग रहना बर्दाश्त नहीं होता था। उनके जैसा समर्पण और सेवा भाव प्रायः देखने को नहीं मिलता। पूर्व में ब्र. कजोड़ीमल जा कामदार जोबनेर और ब्र. चंचलबाई जी ने जिस भक्तिपूर्ण निष्ठा के साथ पूज्य माताजी की सेवा सम्हाल की है वैसे उदाहरण भी बहुत कम देखने में आते हैं।

इतना सब होते हुए भी पूज्य माताजी के मन में एक पीड़ा थी कि संघ में मुझसे वरिष्ठ कोई आर्यिका न होने से मेरी सम्हाल कौन करेगा। आचार्य महाराज की पूर्ण कृपा है परंतु पर्याय भिन्न होने से उनसे हर बात नहीं कही जा सकती। आर्यिकायें सब मुझसे छोटी हैं और डरती भी हैं।

माताजी की इस भावना को समझा पूज्य आचार्य वीरसागरजी महाराज की शिष्या पूज्य गणिनी आर्यिका सुपार्श्वमती माताजी ने, उन्होंने संकल्प पूर्वक अपनी दो संघस्थ आर्यिकाओं के साथ सीकर से विहार किया और २७ दिन में ४५० किलोमीटर चलकर ३१ दिसम्बर २००१ को नन्दनवन पहुँच गई। एक ही परम्परा की इन दो आर्यिकाओं का मिलन भी बहुत प्रभावक था। सुपार्श्वमती माताजी ने २२ दिन तक माताजी को अत्यंत वात्सल्यपूर्वक संबोधन दिया तथा उचित परामर्श देकर उन्हें दृढ़ भी करती रहीं। संघस्थ ब्र. डॉ. प्रमिलाजी ने भी माताजी की बहुत सेवा की।

पूज्य माताजी की भावना थी कि उनकी समाधि किसी सिद्धक्षेत्र पर हो, परन्तु उसकी अनुकूलता नहीं बन सकी। शहरों-कस्बों के कोलाहल-

पूर्ण वातावरण में उन्हें शांति नहीं मिल रही थी। तब उनके पुत्रवत् भक्त प्रतिष्ठाचार्य पं. हँसमुख जी ने सन् १९९७ में धरियावद से तीन किलोमीटर बाहर अपनी एक निर्जन भूमि पर कुछ निर्माण कराके वहाँ चातुर्मास करने का निवेदन माताजी से किया। आचार्य महाराज की स्वीकृति भी मिल गई और चातुर्मास उस भूमि पर हो गया जिसे बाद में श्री क्षेत्र सिद्धांत तीर्थ संस्थान, नन्दनवन नाम दिया गया। चातुर्मास के बाद माताजी ने कुछ विहार किया और १९९८ का चातुर्मास मुंगाणा ग्राम में किया। फिर विहार करते हुए वे पुनः नन्दनवन पधारीं और १९९९, २००० एवं २००१ के चातुर्मास नन्दनवन में ही हुए। अंतिम चातुर्मास नन्दनवन में पूज्य आचार्य वर्धमानसागरजी के संघ सान्निध्य में हुआ।

पं. हँसमुखजी निरन्तर पूज्य माताजी की सेवा में समर्पित भाव से लगे रहे। माताजी की, संघ की एवं माताजी के भक्तों की सब व्यवस्था नन्दनवन में उनके द्वारा होती रही।

बसंत पंचमी
सतना, २००२

- नीरज जैन
- निर्मल जैन

❑ ❑ ❑

पूज्य माताजी के वर्षायोग

दीक्षावर्ष १९६४ में पपौरा, बाद में सभी राजस्थान में क्रमशः श्रीमहावीरजी, कोटा, उदयपुर, परतावगढ़, टोडारायसिंह, भीण्डर, उदयपुर, अजमेर, निवाई, रैनवाल, सवाईमाधोपुर, सीकर, रैनवाल, निवाई, निवाई, टोडारायसिंह, उदयपुर, उदयपुर, उदयपुर, भीण्डर, उदयपुर, कूण, भीलवाड़ा, उदयपुर, भीण्डर, पारसोला, अणिन्दा पार्श्वनाथ, फलासिया, ईडर, रामगढ़, गनौड़ा, गींगला, नन्दनवन, मुंगाणा, नन्दनवन, नन्दनवन और २००१ में पुनः नन्दनवन।

卐 चिन्तन-अनुचिन्तन 卐

✤ हे सल्लेखनारत आत्मन् ! तेरी अवगाहना उतनी ही है जितनी अवगाहना वाला यह शरीर है। जब शरीर के बाहर आत्मा है ही नहीं तब बाह्य विद्यमान जीवाजीव पदार्थों को हृदय में स्थान देकर अपना अहित क्यों करते हो ?

✤ हे आत्मन् ! जिस शरीर में तुम रह रहे हो उसका भी उपकार-अपकार करना जब शक्य नहीं है तब अन्य पदार्थों के उपकार-अपकार के विकल्प कैसे सफल हो सकते हैं ? व्यर्थ के प्रयास में क्यों उलझ रहे हो ?

✤ हे आत्मन् ! अनादिकालीन इस मिथ्या टेव का त्याग करो तथा अपने पद में रहने का पुरुषार्थ करो। दूध-मलाई खाने वाला कार में बैठा हुआ कुत्ता जैसे मल देखकर उसे खाने के लिए दौड़ जाता है वैसे ही तुम आनन्दधाम एवं ज्ञानमय आत्मपद को छोड़ कर बाह्य अपदों में रमण करने हेतु संकल्प-विकल्प रूप मार्गों में मत दौड़ो।

✤ हे आत्मन् ! जितना आत्मतत्त्व है उतना ही ज्ञान है और जितना ज्ञान है, उतना ही कल्याण है अतः एक ज्ञान ही आत्मा के लिए उत्तम पद है।

✤ हे आत्मन् ! इस पद के अतिरिक्त अन्य जो कुछ है वही आकुलतामय अपद है, उससे बचने का प्रयास करो।

✤ हे आत्मन् ! जिसमें से समस्त भेद दूर हो गये हैं, आत्मा के ऐसे स्वभावभूत एक सहज सामान्य ज्ञान का ही अवलम्बन करना चाहिए। इसी के अवलम्बन से भ्रम नष्ट होता है और इसी के अवलम्बन से निज पद की प्राप्ति होती है।

- **हे आत्मन् ! ज्ञान स्वरूप निज पद की प्राप्ति कर्म से नहीं होती, वह पद मात्र ज्ञान द्वारा ही प्राप्त होता है, ऐसा तू दृढ़ निश्चय कर और अपनी ज्ञान-वैराग्य शक्ति से ही उसे प्राप्त करने का सतत अभ्यास कर।**

- हे आत्मन् ! सल्लेखना रत होकर जब तू भोजन, प्राण एवं शरीर से भी उदासीन हो रहा है तब तुझे अन्य पदार्थों के संकल्प-विकल्पों से क्या प्रयोजन है ? तू अपने ज्ञानपद में ही लीन हो, इसी में सन्तुष्ट हो और इसी में तृप्त रह, इसी से तुझे उत्तम सुख प्राप्त होगा। तू आचार्य कुन्दकुन्द देव के वचनों पर विश्वास कर।

  एदह्मि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदह्मि।
  एदेण होहि तित्तो, होहदि तुह उत्तमं सोक्खं।।२०६।।

  - निर्जरा अधिकार : समयसार

- हे आत्मन् ! यदि तेरे मन में अपने कल्याण की भावना जागृत हुई है तो सावधानी पूर्वक उसी मार्ग के अनुकूल चल, यदि अनुकूलता में पुरुषार्थ नहीं कर पा रहा है तो कम-से-कम उस मार्ग के विपरीत तो कोई कार्य मत कर। कल्याण-मार्ग पर चलने के लिए तुझे अत्यन्त गुप्त रहना होगा। यदि किंचित् भी चतुराई दिखायेगा तो जगत् के प्रपंचों में फँसेगा अत: अब तू अज्ञानी बनकर रह, मूर्ख बन कर रह, उल्लू बनकर रह, गूंगा और अन्धा बन कर रह। देख ! किसी को हितकारी, किसी को इष्ट, किसी को अनिष्ट मानना, किसी से घृणा करना, किसी का सत्कार करना, किसी का कार्य सुधारने तथा किसी का कार्य बिगाड़ने के भाव या बुरे कार्य करने वालों को सुधारने की आकुलता इत्यादि ये सभी भाव अद्यावधि तुम्हारे कल्याणमार्ग में रोड़े अटकाते आये हैं। ये सब भाव या कार्य मोक्षमार्ग के विरुद्ध हैं। इन्हें अब हृदय में स्थान मत दो। मात्र अपने ज्ञान स्वभाव में गुप्त रहने का अभ्यास करो, इसी से तुम्हारा प्रयोजन सिद्ध होगा।

- हे आत्मन् ! मनुष्य पर्याय, उत्तम कुल, जैन धर्म, जैनेश्वरी दीक्षा एवं सल्लेखना-ग्रहण, ये सब उत्तरोत्तर दुर्लभ योग प्राप्त हो चुके हैं। अब यदि कषायों का आग्रह छोड़कर विकल्पों में फँसने से अपने मन को रोक सको तो इन दुर्लभ योगों की सार्थकता हो सकती है, वरना किनारे पर आई हुई यह नाव पुनः अगाध समुद्र में डूब जायेगी।

- हे आत्मन् ! अब अपने उपयोग को बाहर मत दौड़ने दो, उपयोग की इस भटकन से ही तुम्हारा संसार स्थिर है। अब तुम अपने विवेक को जागृत करो, समझदारी से काम लो, अपने चैतन्य स्वभावी आत्मतत्त्व को पहिचानो और 'यही मैं हूँ' ऐसा दृढ़ विश्वास करो।

- हे आत्मन् ! भेदविज्ञान के लिए अभ्यन्तर में देखना आवश्यक है। इसके देखने की दो पद्धतियाँ हैं। एक पद्धति में, लगने के लिए देखा जाता है और दूसरी पद्धति में हटने के लिए देखा जाता है। किससे लगना है ? सब पर-पदार्थों से एवं विभाव भावों से अत्यन्त भिन्न अपने चैतन्य स्वभाव मात्र को देखकर अपने ज्ञान स्वभाव में ही लगे रहने का पुरुषार्थ करना, लगाने की यही पद्धति है, किन्तु हे आत्मन् ! इसमें सफलता तभी प्राप्त हो सकती है जबकि हटने के लिए अभ्यन्तर में बार-बार देखा जायेगा। अब तुझे किससे हटना है ? देखो ! बाह्य पदार्थ तो स्वयं ही बहुत दूर पड़े हैं अतः वे तो हटे हुए ही हैं किन्तु जब भीतर देखते हैं तब उपयोग में अनेक प्रकार की झाँकियाँ दिखाई देती हैं। ये झाँकियाँ पूर्वबद्ध कर्म के अनुभाग की छाया से निर्मित होती रहती हैं। यही छाया विकल्पों को उत्पन्न करती है अतः प्रत्येक आत्मार्थी को अपने ज्ञानोपयोग में से उन्हें हटाने के लिए ही भीतर देखना चाहिए। हटने की यही पद्धति है और इन विकल्पों, प्रतिबिम्बों एवं प्रतिफलनों से अपने ज्ञायक स्वभाव की भिन्न श्रद्धा दृढ़ रखना ही सत्यार्थ भेदविज्ञान है।

- हे आत्मन् ! तुम अनादि काल से संसार रूपी चक्र के मध्य भ्रमण कर रहे हो और त्रिलोक विजयी बलवान मोहरूपी पिशाच के द्वारा बैल के सदृश जोते जा रहे हो। अब तो जागो और कुछ सोचो, तुम्हारी अमूल्य निधि तुम्हारे भीतर ही छिपी पड़ी है, उसे खोजो।
- हे आत्मन् ! निज वैभव की प्राप्ति तुम्हें अरहंत के परमागम की उपासना से ही होगी अतः सदा स्वाध्याय में ही इस चंचल मन को संलग्न रखो। इस परमागम की उपासना से आत्मस्वरूप का परिचय होगा।
- हे आत्मन् ! पर की परिणतियों पर और पर-द्रव्यों के परिणमन पर इतना गहन चिन्तन कर क्यों खेदित हो रहे हो, पर-द्रव्य के परिणमन को रोकने में कोई सक्षम नहीं है अतः तुम इस जंजाल से निकल कर बाहर खड़े हो जाओ। जैसा जिसका होना है, होने दो, तुम मात्र तमाशगीर बने रहो। तुम्हारा अनाकुल स्वभाव है, उस स्वभावरूपी अमृत में आकुलता रूपी विष मत डालो, विवेक से काम लो, ज्ञान को ज्ञान रूप ही परिणमने दो, शान्ति का यही एकमात्र मार्ग है।
- हे आत्मन् ! सहज आनन्द स्वरूप यह चिज्ज्योतिमय प्रकाश ही तुम्हारा संतोष-धाम है और यही सर्वोपरि समृद्धि है अतः इसी पर दृढ़ विश्वास करो।
- हे आत्मन् ! यदि तुम्हें अपने आप पर दया उत्पन्न हुई है तो तुम अपने में संलग्न रहो, बाह्य पदार्थों में उपयोग मत जोड़ो।
- हे आत्मन् ! यदि उपयोग में कोई पर-पदार्थ झलकते हैं तो झलकने दो क्योंकि यह तो एक सहज होने वाला कार्य है। तुम तो ज्ञान में ही जुटे रहो और उसी का आनन्द लूटो। बाह्य वस्तुओं में अपना उपयोग मत जोड़ो, मत जोड़ो।
- हे आत्मन् ! आत्मकल्याण के लिए व्यग्र मत हो, समाधि-सिद्धि

के लिए भी व्याकुलता मत करो, क्योंकि व्याकुलता ही असमाधि है। तुम तो मात्र एक काम करो, केवल एक काम, वह यह कि अपने उपयोग को ज्ञानाराम से बाहर मत निकलने दो। बाह्य पर-पदार्थ सुन्दर हो या विकृत हो, उनमें उपयोग मत जाने दो, बस ! कल्याण की सिद्धि हो जायेगी।

- हे आत्मन् ! मात्र इतना सूत्र याद कर लो कि जो पुरुषार्थ स्वाधीन है वह सहजसाध्य है और जो पराधीन है वह दुःसाध्य है।

- हे आत्मन् देखो ! अग्नि जल रही है और दर्पण सामने रखा है, अतः अग्नि की ज्वाला दर्पण में तादात्म्यवत् दिखाई दे रही है किन्तु यथार्थतः तो ज्वाला अग्नि में ही है, दर्पण में प्रवेश नहीं कर गई है। जो ज्वाला दर्पण में दिख रही है वह तो दर्पण की स्वच्छता का ही प्रतिफलन है। वैसे ही कर्म-नोकर्म आदि ज्ञेय अपनी आत्मा में प्रवेश नहीं कर गये, यह तो आत्मा के ज्ञान की स्वच्छता ही ऐसी है जिसमें ज्ञेय एवं विभाव भाव प्रतिफलित होते हैं। दृष्टि की ऐसी विशुद्धि ही भेदविज्ञान है और इस भेदविज्ञान के होने पर ही आत्मा 'ज्ञानी' की संज्ञा पाता है। ज्ञानी आत्मा अपने उपयोग में प्रतिबिम्बित के सदृश अनुभव में आने वाले अपने विभाव भावों की सदा भिन्न रूप में ही प्रतीति करता है तथा अनुभव करता है।

- हे आत्मन् ! जैसे पवन प्रवाहित होने पर समुद्र तरंगित हो उठता है और पवन बन्द हो जाने पर समुद्र अपने स्वभाव में अर्थात् निस्तरंग हो जाता है, तरंगित और निस्तरंगित ये दोनों ही अवस्थाएँ स्वयं समुद्र की हैं, पवन उसमें निमित्तभूत अवश्य है। वैसे ही आपके अन्तरंग में उत्पन्न होने वाले मोह, राग, द्वेष, सुख-दुःखादि कर्म के परिणाम हैं और बाहर उत्पन्न होने वाले स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण एवं संस्थानादि नोकर्म के परिणाम हैं; जीव इनमें मात्र निमित्तभूत है। जैसे व्याप्य-व्यापक भाव से मिट्टी घड़े की कर्ता है वैसे ही व्याप्य-व्यापक भाव से पुद्गल अर्थात् कर्म और नोकर्म

ही उन परिणामों के कर्ता हैं। कर्म और जीव भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं अत: इनमें व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध नहीं बनता अत: इन विभाव भावों के जंजाल से छूट कर यह श्रद्धा दृढ़ करो कि आत्मा मात्र अपने ज्ञान भाव का कर्ता है।

✤ हे आत्मन् ! इस संसार में अन्न, जल और शरीर इन तीनों का बुद्धिपूर्वक त्याग करना अतिदुष्कर कार्य है। सल्लेखना की उत्तम साधना हेतु अन्त में अन्न-जल का त्याग हो जाता है। उससे शरीर में उत्पन्न होने वाली वेदना, संक्लेश का कारण बन जाती है। उस संक्लेश से अपनी आत्मा की रक्षा करने हेतु चिन्तन करो कि भूख, प्यास एवं रोगादि की वेदना में और आपकी आत्मा में कर्ता-कर्मपने का अभाव है क्योंकि इन दोनों में व्याप्य-व्यापक भाव का अभाव है। जो सर्व अवस्थाओं में व्याप्त होता है वह व्यापक है और कोई एक अवस्था विशेष उस व्यापक का व्याप्य है। द्रव्य और उसकी पर्याय में अभेद ही होता है क्योंकि जो द्रव्य का आत्मा, स्वरूप या सत्त्व है वही पर्याय का आत्मा, स्वरूप एवं सत्त्व है अत: प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी पर्यायों में व्याप्त होता है और पर्याय द्रव्य के द्वारा व्याप्त हो जाती है। ऐसी व्याप्य-व्यापकता ततूस्वरूप में अर्थात् मिट्टी और घड़े के सदृश अभिन्न सत्ता वाले पदार्थ में ही होती है, घड़े और कुम्भकार के सदृश भिन्न-भिन्न सत्ता वाले अतत् स्वभावी पदार्थों में नहीं होती। अत: हे आत्मार्थी ! श्रद्धा करो कि तुम्हारी आत्मा और ज्ञान तत् स्वभावी है अर्थात् मात्र ज्ञाता-द्रष्टा है तथा शरीर, कर्म और नोकर्म अतत् स्वभावी हैं, यथार्थत: इनसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है।

✤ हे आत्मन् ! दुर्लभ मनुष्य पर्याय में समाधि-साधना जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य की प्राप्ति अति दुर्लभता से हुई है। अन्धे के हाथ बटेर आ जाने के सदृश समाधि का यह सुयोग अति पुंण्योदय से प्राप्त हुआ है। तुम संकल्प-विकल्पों में फँसकर इस समाधि का कितना

तिरस्कार कर रहे हो ? सोचो ? ये जो विकट समस्याएँ एवं अनास्था के संकेत सामने आ रहे हैं वे केवल आपकी दृढ़ता की परीक्षा के लिए हैं। अथवा पूर्व भव का कर्ज है ऐसा सोच कर उसे शान्तिपूर्वक चुका देने में ही सार है। इसी से उद्देश्य की पूर्ति होगी।

✤ हे आत्मन् ! विकल्प जालों की यह गन्दी कथरी शीघ्र ही उतार कर दूर फेंक दो। मानापमान के ये विकल्प तुम्हारे उद्देश्य को बुरी तरह नष्ट-भ्रष्ट कर रहे हैं। सोचो ! यदि तुम अपने उद्देश्य से भ्रष्ट हो गये तो अनन्त भवों के सदृश यह भव भी मिट्टी में मिल जायेगा। इस ग्रहण की हुई साधना को सम्हालने का तुम्हारा बहुत भारी उत्तरदायित्व है, इस उत्तरदायित्व का निर्वाह दो प्रकार के वातावरण निर्मित करने से हो सकेगा। एक तो जिनेन्द्र-भक्ति, दूसरा स्वस्वभाव की उपासना। इन्हीं दो साधनों से आत्मा की रक्षा हो सकती है, किसी अन्य को दोषी मानने से नहीं। इस कार्य से तो अरक्षा ही होगी।

✤ हे आत्मन् ! यह सत्य है कि पर्याय दृष्टि से किसी द्रव्य की कोई पर्याय किसी समय अन्य द्रव्य की पर्याय की उत्पत्ति में निमित्त हो जाती है। इसी दृष्टि से तुम्हें दुख हो रहा है कि ये समाधि के समय भी ऐसे प्रतिकूल साधन क्यों जुटा रहे हैं ? इसके समाधान हेतु तुम्हें दो बातों का चिन्तन करना चाहिए। एक तो यह कि स्वयं के कर्मोदय के बिना कोई अनुकूल-प्रतिकूल साधन जुटाने में निमित्त नहीं बन सकता, दूसरी बात यह कि द्रव्य दृष्टि से अर्थात् परमार्थ से द्रव्य, मात्र अपने परिणाम का कर्ता होता है। अन्य द्रव्य के परिणाम का अन्य द्रव्य कर्ता हो नहीं सकता। इतना निर्णीत सिद्धान्त प्राप्त कर भी अन्य के व्यवहार से दुखी होना तुम्हारी मूर्खता का ही द्योतक है।

✤ हे आत्मन् ! तुम्हें आज फिर क्या हो गया ? इतने व्याकुल क्यों हो रहे हो? वाह ! फिर समयसार के स्वाध्याय का क्या सार? देखो ! कुन्दकुन्द देव ने क्या कहा कि-

पोग्गलदव्वं सद्दत्त-परिणयं तस्स जइ गुणो अण्णो।
तह्मा ण तुमं भणिओ, किंचिवि किं रूससि अबुद्धो ॥३७७॥

शब्दरूप परिणत हुआ पुद्गल द्रव्य और उसके गुण यदि तुझ से अन्य हैं तो हे अज्ञानी जीव ! तुझको तो कुछ भी नहीं कहा, तब तू अज्ञानी हुआ क्यों रोष करता है ?

✤ हे आत्मन् ! जैसे स्फटिकमणि में स्वस्वभावरूप से परिणमन करने का सामर्थ्य होते हुए भी समीपवर्ती नीले, पीले एवं काले आदि प्रसूनों का आश्रय प्राप्त कर वह तद्-तद् रूप से परिणमन कर जाती है, उसी प्रकार निश्चयत: आत्मा में स्वस्वरूप से परिणमन करने का सामर्थ्य होते हुए भी कर्मोदय में आने वाले नाना प्रकार के रागद्वेष रूप अनुभाग का सामीप्य प्राप्त कर यह तुम्हारा उपयोग अनादि काल से विकार रूप परिणमन कर रहा है। यही विकारी परिणमन संसारवृद्धि का कारण है अत: समाधि-साधना की इस शुभबेला में विकारी भावों से अपने उपयोग को हटाओ और अपने चैतन्य स्वभाव की दृढ़ श्रद्धा रखते हुए ज्ञानधाम में विचरण करने का ही सतत अभ्यास करो। यही हितकर है।

✤ हे आत्मन् ! निरन्तर दुख देने वाले इस आर्तध्यान को छोड़ो। संसार के दु:खों से डरो और उद्देश्य की पूर्ति में समर्थ ऐसे धर्मध्यान में ही अपने उपयोग को स्थिर रखो।

✤ हे क्षपकात्मन् ! अनिष्ट वचनों के निमित्त से तुम जो आर्तध्यान कर रहे हो यह तुम्हारी सुगति के लिए आगल स्वरूप है अत: कषाय भावों को रोकने के लिए, मन को अपने वश में रखने के लिए, सल्लेखना की सिद्धि के लिए और समताभाव की बुद्धि अथवा स्थिरता के लिए मन, वचन और काय से आर्तध्यान को भेदो और प्रशस्त धर्मध्यान में उपयोग को जोड़ो।

✤ हे आत्मन् ! देखो ! माता कभी कुमाता नहीं होती ! पुत्र बिगड़ कर कुपुत्र अवश्य हो जाता है और दु:खी होता फिरता है। जब

कभी उसे सुबुद्धि आती है तब पुनः माँ के पास आकर सुख प्राप्त करता है और सोचता है कि अब मुझे सहारा प्राप्त हो गया है, किन्तु विचार करो कि माँ का वात्सल्य सहज स्वाभाविक होने से उसका सहारा तो शाश्वत ही था, कोई नवीन उत्पन्न नहीं हुआ है। पुत्र ने ही कुबुद्धि के कारण उसे छोड़ दिया था तथा सुबुद्धि आते ही उसे ग्रहण कर लिया है। इसी प्रकार सहज सिद्ध स्वचैतन्य हमारा शाश्वत शरण है और वह हमारे अन्तस् में ही सदा से विद्यमान है, परन्तु जब यह उपयोग रूपी कुपुत्र राग-द्वेष के जाल में फँसकर उस अपने ज्ञायक स्वभाव को छोड़ देता है तब दुःखी होकर भ्रमण करता रहता है, किन्तु जब वह उन विभाव भावों की संगति छोड़कर अपने चैतन्य प्रभु की संगति में आ जाता है तब सोचता है कि अब मुझे सत्यार्थ शरण प्राप्त हो गया है। शरण कहाँ से मिला ? वह कहाँ चला गया था? अब कैसे आ गया............? हे क्षपक ! सोचो ! वह शाश्वत शरण तो पूर्व से ही निष्पन्न था। तुमने उसे नहीं देखा, दृष्टि से ओझल कर दिया। इसी भूल के फलस्वरूप दुःखी होते हुए भ्रमण कर रहे हो। तुमने जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित सल्लेखना ग्रहण की है, उसे सफल करने हेतु चेतो और सजग होकर अपने ज्ञान स्वभाव में संलग्न होकर रहो, इससे तुम्हारे सारे विकल्प छूट जायेंगे तथा सन्ताप शान्त हो जायेगा और समाधि की सिद्धि भी हो जायेगी।

- हे क्षपक ! तुम दुखी होकर किसकी शरण खोज रहे हो ? विवेक को जाग्रत करके सोचो कि कौन किसका शरण है ! यथार्थतः ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप ये चार सम्यक् आराधनाएँ ही तुम्हारी शरण हैं। इन्हीं की शरण से तुम्हारे ग्रहण किये हुए कार्य की सिद्धि होगी।

- हे आत्मन् ! इस समय तुम्हारा पापकर्म उदय में आ रहा है। इस कर्म की ऐसी लीला है कि इसके तीव्रोदय में शरणभूत मनुष्य

और पदार्थ भी अशरणभूत हो जाते हैं। अमृत विष, बन्धु शत्रु, तृण शस्त्र और बलवान कमजोर बन जाते हैं। पापोदय में निर्दोष का भी अपवाद हो जाता है। जैसे सूर्योदय को रोक देना असम्भव है, वैसे ही कर्मोदय को रोक देना असम्भव है। इसके उदय में होने वाले अपवाद, अनादर, पीड़ा, रोग, शोक, भय, जन्म एवं मरण आदि को भोगना ही पड़ेगा अतः जिनका कोई प्रतिकार ही नहीं है उन्हें समतापूर्वक भोग लेने में ही सार है। सल्लेखना लेकर इतने संकल्प-विकल्प करना मानों अपना अहित करना है।

✤ हे आत्मन् ! देखो ! किसी प्रकार नगर आदि में जब अराजकता फैल जाती है तब उस पर नियन्त्रण करने के लिए शासन की ओर से धारा १४४ लगा दी जाती है जिससे कोई मार्ग में यत्र-तत्र न घूमे, चार-छह मनुष्य इकट्ठे खड़े न हों तथा हथियार या डण्डा लेकर न चलें, इत्यादि। इस पर भी जब अराजकता अधिक बढ़ती जाती है तब शासन मार्शल लॉ लगाकर नियन्त्रण करता है। इसमें तो बहुत अधिक सतर्कता रखनी होती है। कोई अपना सिर निकाल कर खिड़की या दरवाजे से बाहर झाँकने की भी कोशिश करता है तो भी उसे मार दिया जाता है अर्थात् उस पर भारी संकट आ जाता है। इसी प्रकार हे सल्लेखनारत आत्मन् ! सोचो ! यह मोहान्धों की नगरी है। यहाँ का वातावरण सदैव अशान्त ही रहा है। यहाँ आकुलता और अकल्याणों का ही बोलबाला है। तुम अनादि काल से ऐसे अराजकता-पूर्ण स्थानों पर ही रह रहे हो। इस मनुष्य पर्याय में कुछ विवेक जागृत हुआ और इस अराजकता से बचने हेतु धारा १४४ के स्थानीय मूलगुणों के साथ सल्लेखना भी धारण की है। अब मन और पाँच इन्द्रियाँ इन छह खिड़कियों में से कोई भी खिड़की खोलकर तुम्हारे उपयोग ने यदि बाहर झाँकने की अनधिकार चेष्टा भी की तो याद रखो मार्शल लॉ के आधार से तुम्हारी गति बिगाड़ दी जायेगी अतः यदि तुम अपना भला चाहते हो तो अपने चैतन्य भवन में चुपचाप शान्तभाव से बैठकर ग्रहण की हुई सल्लेखना में रत रहो और

समतारस का आस्वादन करते हुए निराकुलता का अनुभव करो। बार-बार बाहर झाँकने की कुचेष्टा कर व्यर्थ की आपत्ति मोल मत खरीदो। संसार के दुःखों से अब तो डरो।

- हे आत्मन् ! जिन संक्लेश परिणामों का तुम अनुभव कर रहे हो वे परिणाम तुम्हारी आत्मा का स्वभाव नहीं हैं अपितु कर्मोदय से प्राप्त हुए हैं और वह कर्म भी पहले संक्लिष्ट परिणामों से ही बंध को प्राप्त हुआ था और अब कर्मोदय से होने वाला संक्लेश पुनः नवीन कर्मबंध करायेगा। इस प्रकार तुम अनादिकाल से कर्म-क्लेशों से अनुबद्ध हो रहे हो, अब तुम्हें सल्लेखना के माध्यम से इस अनुबद्ध परम्परा को नष्ट करने का दृढ़ संकल्प कर अनुकूल पुरुषार्थ करना चाहिए। देर भले हो जाये किन्तु अन्धेर नहीं होना चाहिए।

- हे आत्मन् ! जो घटनाएँ बीत चुकी हैं, उन्हें स्मृति का द्वार खोलकर पुनः मत बुलाओ। आज नवीन सूर्य उदय हुआ है। अतः वर्तमान को समुज्ज्वल बनाने के लिए नया ही कदम उठाओ। भूत को भूल जाओ, विगत को सोचने से ही हृदय में मलिनता आती है। यदि तुम्हें कुछ सोचना ही है तो यह सोचो कि 'कल की सफलता' मेरे ही हाथों में है।

- हे आत्मन् ! यदि तुम यथार्थतः संसार के दुखों से छूटना चाहते हो तो 'पर की आस' छोड़ दो। आत्मबल ही सबसे बड़ा बल है जो सदा तुम्हारे पास है, उसी की शरण लो।

- हे आत्मन् ! यदि कोई अभिमान के वशीभूत हो अनुचित कह गया है तो कह जाने दो, तुम अपना मन विषादग्रस्त मत होने दो क्योंकि मन के विषाद से तुम्हारे भीतर अनेक दोष उत्पन्न हो जायेंगे जो तुम्हारी समता और सल्लेखना को उसी प्रकार भस्म कर देंगे जिस प्रकार अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है।

- हे आत्मन् ! यह वचन बाण रूपी संकट धैर्य की कसौटी है, इसके बिना धैर्य की परख नहीं हो सकती है।

- हे आत्मन् ! धैर्य और समता ही तुम्हारी जर्जर नौका की पतवार हैं, ये ही तुम्हारी नौका को मंजिल तक ले जाने में समर्थ हैं।
- अभिमानी व्यक्ति तपस्वियों की महिमा नहीं माप सकते। ऐसे लोगों द्वारा यह कार्य उतना ही कठिन है जितना दिवंगत आत्माओं की या तृणों की या आकाश के तारों की या समुद्रगत लहरों की गणना करना।
- हे आत्मन् ! सब संसारी जीवों के सदृश तुम भी अपने कर्मसूत्रों से बँधे हुए हो, यह जानते हुए भी तुम सोच रहे हो कि इसने मुझे दुख दिया है, यह सब तुम्हारी कुबुद्धि का प्रसार है क्योंकि कोई किसी को सुख अथवा दुख नहीं दे सकता।
- हे आत्मन् ! जो घटित हुआ है वह पूर्वबद्ध कर्मों का फल विपाक है। काल पूर्ण हो जाने से विपाक आया, आ रहा है और आवेगा क्योंकि उसका एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध है किन्तु यह तेरा स्वभाव नहीं है, ये सब कर्म तुझ से भिन्न हैं क्योंकि ये पुद्गल हैं। इतना अवश्य है कि जब इनका विपाक होता है तब अनायास उसका प्रतिफलन होता है, उस प्रतिफलन से आक्रान्त हुआ तू विह्वल हो गया / विकृत हो गया / आकुलित हो गया और अपने ज्ञायक स्वभाव / चैतन्य स्वभाव / सुख स्वभाव को भूलकर बहक गया। देख ! तेरा समय समीप आ चुका है। तू अब तो बहकना छोड़ दे। तू अपना उपयोग उसमें मत उलझा, कल्पना के जाल मत बुन। मान जा-मान जा............। तू एक क्षण के लिए अन्तर में झाँक कर तो देख, क्या हो रहा है ? अन्तरंग में इस स्वभाव से परिचय कर कि तू मात्र ज्ञान-स्वभावी है। बस, तू अपना उपयोग वहाँ से हटा ले, फिर तेरा मार्ग बिलकुल साफ-सुथरा है। तू कर्मफल को मत पकड़, मात्र अपने स्वरूप को पकड़ने का अभ्यास कर। यह तेरा स्वभाव शुद्ध है, चैतन्यमयी है, गम्भीर है और जानन मात्र है।

ॐ शान्ति ! शान्ति ! शान्ति !

✤ हे आत्मन् ! देख, शान्ति प्राप्त करने के लिए कुछ नहीं करना है, मात्र विपरीत जानना छोड़ दे। बस, इतना ही करने की आवश्यकता है, इसके आगे जो स्वयं हो रहा है, होने दे। पर का सम्पर्क मत बना, पर का विकल्प मत कर, उद्वेग से बच। जान ले कि मैं परिणमन स्वभावी हूँ अतः परिणमूंगा, सो परिणमने दे। तू मात्र अपने इस स्वातन्त्र्य को देख, जानकारी यथार्थ रख। मैं चैतन्य स्वभावी हूँ ऐसा ही निर्णय रख, इससे तुझे अशान्ति नहीं होगी - नहीं होगी; एक बार अनुभव करके तो देख........।

✤ हे आत्मन् ! तुम स्वयं एक आनन्दमय तत्त्व हो, तुम्हारा यह आनन्द और ज्ञानमय स्वरूप ही एक दृढ़ किला है, इस स्वरूप में किसी भी अन्य का प्रवेश नहीं है। यह आत्मतत्त्व जल से गलता नहीं है और अग्नि से जलता नहीं है, इसे न कोई पकड़ सकता है और न बन्धन में ही डाल सकता है। ऐसा दृढ़ विश्वास कर तुम अपने में ही तृप्त रहो, अपने में ही रमो, उपयोग को बाहर निकलने ही मत दो। बस, इतने सहज पुरुषार्थ से ही तुम्हारा कार्य सिद्ध हो जायेगा।

✤ हे आत्मन् ! तुमने समाधि धारण की है, इसकी सिद्धि के लिए व्रत उपवास आदि तप भी किये जा रहे हैं, किन्तु अब राग-द्वेष के त्याग की प्रक्रिया विशेष रूप से अपनानी चाहिए, इसी में समाधि की सफलता है और इसी को सुसमाधि कहते हैं। यह सुसमाधि आधि, व्याधि और उपाधि जैसे रोगों का विनाश कर निरुपाधि रूप मोक्ष पद देने में समर्थ है अतः इसकी साधना का सतत अभ्यास करो अर्थात् तप के साथ-साथ अपने उपयोग को आराधनाओं में संलग्न रखो, राग-द्वेष के जाल में मत फँसाओ।

✤ हे आत्मन् ! मुक्तिप्रदाता यह समाधिमरण का व्रत, सर्वव्रतों का अधिनायक है अतः इसी को सफल बनाने में अपना उपयोग एवं मन दृढ़ रखो और पर-परिणति का त्याग करो।

✤ हे आत्मन् ! तू अनादिकाल से पर-परिणति के रस में मग्न रहकर

अपना संसार बढ़ाता रहा। इस पर्याय में गुरुजनों के सम्पर्क से रत्नत्रय प्राप्त किया, सल्लेखना ग्रहण की, उसकी उपेक्षा कर तू पर-परिणति में उलझकर नवीन कर्म-कलंक का उपार्जन कर पुनः दुर्गति में जाने का उपक्रम कर रहा है? धिक्कार है - धिक्कार है तेरी ऐसी विभाव परिणति को.........।

- हे आत्मन् ! यदि तुम्हें नहीं समझना तो मत समझो। किन्तु इतना स्मरण रखो कि जब तक बिना समाधि के मरण होता रहेगा तब तक जन्म-मरण का चक्कर चलता रहेगा क्योंकि इस चक्कर को नष्ट करने के लिए अत्यधिक गुणों से भरी हुई यह एक सल्लेखना ही समर्थ है अतः यही हमारा सच्चा शरण है।

- हे आत्मन् ! तुम अनादि काल से ही सिद्ध स्वरूपी, अविनाशी एवं सिद्ध सदृश सुख के भण्डारी हो किन्तु मोह के जाल में फँस कर अनन्त काल से ही कुमरण कर रहे हो, अब तो अपने अनन्त प्रभाव वाले चिद्रूप को पहिचानो, जो सकल परभावों से सदैव/सर्वथा भिन्न है।

- हे आत्मन् ! तुम्हारा चित्त कषाय कलंक से कलंकित हो रहा है, तुम्हारा पापी मन अपने ही अपराधों से अपवित्र हो रहा है अतः अतिशीघ्र रागादि भावों को उपशान्त कर जिनेन्द्रदेव की भक्ति में उपयोग संलग्न करो। जिनेन्द्र की भक्ति के सम्बल बिना यह सल्लेखना रूपी भवन सुरक्षित खड़ा नहीं रह सकता, कषाय और संकल्प - विकल्प रूपी आतंकवादी इसका अतिशीघ्र विध्वंस कर देंगे, अतः इनसे अपनी रक्षा करो।

- हे आत्मन् ! इस दुखमय संसार में तुमने अपरिमित बालमरण किये हैं। अब इस शुभ अवसर पर दृढ़ संकल्प करो कि मैं पण्डित-मरण ही करूंगा। भगवान जिनेन्द्र ने भक्त प्रत्याख्यान की जो विधि कही है उसी विधि का यथाशक्य अनुकरण करूँगा, निज और पर के विवेक को जागृत रखूँगा तथा मरण के प्रति निर्भय रहूँगा।

✤ हे आत्मन् ! सदैव ऐसी ही भावना का चिन्तन करो कि मैं एक था, एक हूँ और एक ही रहूँगा। पर-भावों से मेरी आत्मा सदैव भिन्न है। मैं अविनाशी हूँ, शुद्ध-बुद्ध हूँ, ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाला हूँ और अनन्तगुणों का भण्डार हूँ परन्तु जैसे शीतल स्वभाव वाला भी जल अग्नि के संयोग से खौलने लगता है, वैसे ही कर्मबन्ध के कारण मेरा यह आत्मा अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। मैंने सर्वत्र भ्रमण कर देख लिया है, इस असारभूत संसार में सुख रूप एक भी स्थान प्राप्त नहीं हुआ। अब मैं अपने आत्म-स्वभाव का अनुभव कर निर्वाण-प्राप्ति के लिए सतत पुरुषार्थ करूँगा।

✤ हे आत्मन् ! अब इस सल्लेखना रूपी कल्पवृक्ष में अति शीघ्र फल लगने वाले हैं फिर भी तुम्हारा मन कभी-कभी आर्तध्यान में संलग्न हो जाता है। कहीं ऐसा न हो कि यह आर्तध्यान रूपी अग्नि इस उत्तम वृक्ष को भस्मसात् कर दे। देखो ! जिनेन्द्र देव ने कहा है कि जो निर्मोही रहते हैं, निर्द्वन्द्व होते हैं, वैराग्यपरायण एवं ज्ञानी होते हैं, निर्विकल्प रहते हैं, स्वनिधि के स्वामी होते हैं, निजस्वभाव में संलग्न होने के लिए आतुर रहते हैं और निर्मम रहते हुए समताभावों का स्पर्श करते रहते हैं, वे धर्मध्यान के स्वामी होते हैं अतः आप सतत धर्मध्यान में ही अपना उपयोग लगाये रखो।

✤ हे आत्मन् ! जो तीन लोक का अधिपति है, मल रहित है चेतना गुण से मण्डित है, अनुपम है और ज्ञानस्वरूप है ऐसे आत्मस्वरूप को तुम बार-बार देखो, बार-बार जानो और बार-बार उसी का अनुभव करो। जिस परोक्ष ज्ञान से हम अन्य पदार्थों को जानते हैं उस ज्ञान से आत्मा को भी जान सकते हैं, ऐसी दृढ़ श्रद्धा रखकर आत्मा को जानने का पुरुषार्थ करो।

✤ हे आत्मन् ! जो समाधि तुमने धारण कर रखी है वह सर्वगुणों की खान है, निर्दोष है, उपाधि आदि दोषों से रहित है, स्वयं

आनन्दमय है और आनन्द देने वाली है, ऐसी समाधि को निरतिचार धारण कर तुम इस स्त्री पर्याय को छेदने का पुरुषार्थ करो।

- हे आत्मन् ! यह शरीर, शरीर नामकर्म के उदय से प्राप्त हुआ है, सप्तधातुओं से निर्मित है, रज और वीर्य इसका बीज है, काच की शीशी सदृश किसी भी क्षण टूट-फूट जाने वाला है, जड़ है और मात्र पुद्गल से निर्मित है, अतः ऐसे क्षणक्षयी शरीर से राग मत करो......। ममत्व मत करो...... चेतो-चेतो......।

हे आत्मन् ! इस तीन सौ तैंतालीस घन राजू प्रमाण सम्पूर्ण लोक में -

- ब्रह्मचर्य व्रत से बड़ा अन्य कोई व्रत नहीं है।
- आत्मतल्लीनता के समान कोई संलीनता नहीं है।
- आत्मविज्ञान सदृश कोई विद्या/विज्ञान नहीं है।
- आत्मज्ञ के सदृश कोई विज्ञ नहीं है।
- ब्रह्मविलास के सदृश अन्य कोई आनन्ददायिनी क्रीड़ा नहीं है।
- जिनधर्म सदृश कोई धर्म नहीं है।
- जिनेन्द्र सदृश कोई देव नहीं है।
- निर्ग्रन्थ मुनिराज सदृश कोई गुरु नहीं है।
- आत्मानुभव की सिद्धि सदृश अनुपम कोई बेल नहीं है।
- ज्ञान सदृश अन्य कोई शक्तिमान नहीं है।
- केवलज्ञान सदृश कोई ज्ञान नहीं है।
- यथाख्यात चारित्र सदृश कोई चारित्र नहीं है।
- क्षायिक सम्यक्त्व सदृश सम्यक्त्व नहीं है।
- शील सदृश कोई संयम नहीं है।
- आत्मानुभव सदृश कोई अमृत नहीं है।
- शान्ति रस सदृश कोई रस नहीं है।

- मनोगुप्ति सदृश अन्य कोई गुप्ति नहीं है।
- मुनि सदृश कोई ध्यानी नहीं है।
- मौन सदृश कोई हितकारी नहीं है।
- सिद्ध सदृश कोई द्रष्टा नहीं है।
- ज्ञान सदृश कोई गुण नहीं है।
- केवल दर्शन सदृश कोई दर्शन नहीं है।
- सम्यक्त्व सदृश कोई स्वभाव नहीं है।
- शुद्धोपयोग सदृश कोई शुद्ध भाव नहीं है।
- क्षीणकषायवर्ती जैसा कोई मुनि नहीं है।
- शुक्लध्यान सदृश कोई ध्यान नहीं है।
- जिनमत सदृश महान् कोई अन्य मत नहीं है।
- जिनवाणी सदृश हितकारी और मधुर कोई वाणी नहीं है।
- जिनागम सदृश व्यवस्थित कोई शास्त्र नहीं है।
- जिनार्चा सदृश कोई अर्चा/पूजा नहीं है।
- उपकारी जिनेन्द्र सदृश कोई परोपकारी नहीं है।
- जिनवर सदृश अन्य कोई बलवान नहीं है।
- जिनराज सदृश कोई अन्य सुन्दर नहीं है।
- जिसमें बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्याग किया जाता है, आरम्भादि सावद्य का त्याग किया जाता है, मस्तक एवं दाढ़ी-मूंछ के केशों का लुंचन किया जाता है, शरीर का संस्कार नहीं किया जाता, जो पर की अपेक्षा से रहित, याचना से विहीन, विकार-विवर्जित, दिगम्बर रूप और नवजात शिशु सदृश वस्त्राभरणों से रहित होता है ऐसे जिनलिंग समान और कोई अन्य लिंग नहीं है।
- तीर्थंकर पद सदृश अन्य कोई महान् पद नहीं है।

- शलाका पुरुषों सदृश कोई श्रेष्ठ मनुष्य नहीं है।
- अरहन्त परमेष्ठी सदृश कोई औदारिक शरीरधारी नहीं है।
- सिद्ध पर्याय सदृश कोई शुद्ध पर्याय नहीं है।
- सम्यक् चारित्र सदृश कोई कोतवाल नहीं है।
- सर्वज्ञ सदृश वक्ता तथा गणधर सदृश कोई श्रोता नहीं है।
- समता सदृश कोई हितसाधक नहीं है।
- परोपकार सदृश कोई पुण्य कार्य नहीं है।
- शुक्ल लेश्या सदृश कोई उज्ज्वल लेश्या नहीं है।
- जिनशासन सदृश उज्ज्वल कोई शासन नहीं है।
- विवेक और वैराग्य सदृश कोई संयम नहीं है।
- सर्वज्ञ के सदृश कोई सत्यवादी नहीं है।
- निस्पृह और निर्द्वन्द्व समान कोई परिग्रह-त्यागी नहीं है।
- आत्मध्यान के सदृश कोई उत्तम ध्यान नहीं है।
- रागादि के त्याग सदृश कोई त्याग नहीं है।
- त्याग के सदृश कोई शौर्य नहीं है।
- ध्यान के सदृश कोई तप नहीं है।
- आत्मरस के रसास्वादनरूप भोग सदृश कोई भोग नहीं है।
- कर्मों से लड़ने वाले मुनिराज के सदृश कोई योद्धा नहीं है।
- भावपूर्वक सेवा सहित कोई सेवा नहीं है।
- सोऽहं सदृश कोई अजपा जप नहीं है।
- जिनेन्द्र की भक्ति सदृश अन्य कोई भक्ति नहीं है।
- णमोकार सदृश कोई मन्त्र नहीं है।

- हे आत्मन् ! देखो, सोचो और समझो ! कि संयोग - वियोग, जीवन - मरण और लाभ-अलाभ ये भाग्याधीन हैं, पुरुषार्थाधीन नहीं। इस सिद्धान्त के जीवित रहते भी इतनी आकुलता क्यों? समझ लो कि - यह सब मेरे ही उपार्जित कर्मों का फल है, जिसे कोई भी अन्यथा करने में समर्थ नहीं है। देखो ! सीता के प्रति राम का कितना अधिक स्नेह था किन्तु सीता का पापोदय आते ही वह उन्हीं राम के द्वारा भयंकर जंगल में एकाकी छुड़वा दी गई। इसी प्रकार तुम्हारे ऊपर भी जो घटा है या घट रहा है वह तुम्हारे ही क्षीण पुण्य का द्योतक है अतः समता भाव रखो, यह आकुलता तुम्हारी कार्यसिद्धि में बाधक होगी----।
- हे आत्मन् ! '**आलंबणं च मे आदा**' यह निश्चयनय का विषय है जो आत्मशक्ति की श्रद्धा मात्र का द्योतक है, किन्तु जब तक आत्मशक्ति प्रगट नहीं हुई अर्थात् कर्मों से आच्छादित है तब तक व्यवहार का आश्रय अति आवश्यक है। इसके आश्रय बिना तीर्थ/मार्ग का विलोप हो जायेगा, अर्थात् मोक्षमार्ग का ही लोप हो जायेगा, इसीलिए शक्तिहीन संहनन में धारण की हुई सल्लेखना के रक्षण हेतु निर्यापकाचार्य जी की सन्निधि आवश्यक है। जैसे शक्तिशाली एवं अभ्यस्त योद्धा भी समरभूमि में बिना कवच के अपनी रक्षा नहीं कर सकता वैसे ही उत्कृष्ट रत्नत्रयधारी आचार्य भी भक्त प्रत्याख्यान मरण में निर्यापकाचार्य की सन्निकटता बिना अपने परिणामों की रक्षा नहीं कर सकता।
- हे आत्मन् ! जैसे शिशु को माता का, अन्धे एवं पंगु को लकड़ी का, जीवित रहने को जल एवं वायु का और रोगी को औषधि का अवलम्बन आवश्यक है, वैसे ही समाधिस्थ क्षपक को निर्यापकाचार्य का अवलम्बन आवश्यक है।
- आत्मज्ञान सदृश कोई बोध नहीं।
- कुमरण-नाशक परमसमाधि सदृश कोई तन्त्र नहीं।

- सिद्धक्षेत्र सदृश कोई क्षेत्र नहीं।
- षोड्शकारण सदृश कोई महान् कारण नहीं और उस कारण का तीर्थंकर प्रकृति के बंध सदृश कोई कार्य नहीं।
- दर्शनविशुद्धि भावना सदृश कोई भावना नहीं।
- केवल ऋद्धि सदृश कोई ऋद्धि नहीं।
- शान्ति स्वभाव सदृश कोई शीतल जल नहीं।
- निरभिमानता सदृश अन्य कोई कोमल पदार्थ नहीं।
- सन्तोषी समान अन्य कोई सुखी नहीं।
- इच्छानिरोध सदृश अन्य कोई तपश्चरण नहीं।
- आकिंचन धर्म सदृश कोई निर्भयता नहीं।
- जिनेन्द्र के गुणगान सदृश अन्य कोई आलाप/तान नहीं।
- ओंकार सदृश अन्य कोई मंगलाचरण नहीं।
- सोऽहं सदृश अन्य कोई नाद/ध्वनि नहीं।
- स्याद्वाद सिद्धान्त सदृश अन्य कोई निर्विवाद सिद्धान्त नहीं।
- ज्ञान, वैराग्य और विवेक सदृश अन्य कोई इस जीव का हितकारी नहीं है।
- धर्म सदृश अन्य कोई सच्चा मित्र नहीं।
- पंचमगति सदृश कोई अन्य गति नहीं।
- शुद्धोपयोग सदृश अन्य कोई सीधा और निष्कंटक मार्ग नहीं।
- जितेन्द्रिय एवं धैर्यवान् सदृश कोई वन्दनीय नहीं।
- समता, सन्तोष और विवेक सदृश कोई मन्त्री नहीं।
- हे आत्मन् ! समाधि काल में निर्यापकाचार्य गुरु का सबल सम्बल, मुनिजनों की सन्निकटता, जिनेन्द्र दर्शन और जिनवाणी का उद्घोष अन्धे की लकड़ी सदृश अत्यधिक आवश्यक है, इन सब दुर्लभ

संयोगों की स्वप्न में भी उपेक्षा नहीं करना किन्तु इसके साथ-साथ यह श्रद्धा भी अटल रखना कि आत्मा का ही नहीं अपितु प्रत्येक पदार्थ का परिणमन स्वयं के उपादान में होता है। देखो! पृथ्वी पर वृक्ष की / मनुष्य की / स्तम्भ की / मकान की छाया देखकर लोग कहते हैं कि यह वृक्ष की छाया है, यह मकान की छाया है इत्यादि........ किन्तु तत्त्वदृष्टि से विचार करो कि छाया किसकी है ? यथार्थतः छाया पृथ्वी की है क्योंकि छाया रूप परिणमन वृक्ष का नहीं हुआ पृथ्वी का हुआ है अतः छाया पृथ्वी की ही है। उस छाया में वृक्ष / मनुष्य / भवन निमित्त अवश्य हैं। किसी भी पदार्थ की कोई भी व्यंजन पर्याय द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव के निमित्त बिना प्रगट नहीं होती।

✤ हे आत्मन् ! तुम्हारा प्रधान गुण 'ज्ञान' है और लक्षण जानना है। इसी को स्वभाव कहते हैं। जितनी भी ऋद्धियाँ एवं ज्ञान हैं वे सब इसी सामान्य ज्ञान के विशेष हैं। अर्थात् सब प्रकार के ज्ञानों का खज़ाना स्वयं / आत्मा ही है फिर भी गुरु से / उपाध्याय से / शास्त्रों से ज्ञान ग्रहण की बात कही जाती है क्योंकि निमित्त के बिना उपादान की शक्ति प्रगट नहीं होती जैसे आंगन में रखे हुए दर्पण, चांदी, काँसा, स्टील, पीतल, ताँबा एवं लोहा आदि सभी धातुओं के बर्तन और भी अनेक प्रकार के पदार्थ दीपक, चन्द्रमा एवं सूर्य का प्रकाश होते ही चमकने लगते हैं। जिसे देखकर लोग समझते हैं कि इन पदार्थों को सूर्य या चन्द्र या दीपक ने प्रकाशित किया। इस पर तत्त्व- दृष्टि से विचार किया जाये तो ज्ञान हो जाता है कि दीपक अपने आप में जलता है / जगमगाता है / प्रकाशित होता है, इसी प्रकार सूर्य - चन्द्र भी स्वयं प्रकाशित हैं, उनका निमित्त पाकर अन्य पदार्थ अपनी-अपनी योग्यतानुसार स्वयं चमक रहे हैं, इसी कारण दर्पण में जो चमक है वह अन्य बर्तनों में तथा घट - पटादि पदार्थों में नहीं है। यदि इन्हें सूर्य चमकाता तो दर्पण के समान लोहे के बर्तन भी चमकते। इसी प्रकार समाधि-सिद्धि का अर्थात्

परिणामों की शुद्धि का पुरुषार्थ स्वयं करना होगा। गुरुजनों के निमित्त का आश्रय ले, एकचित्त हो अपने स्वभाव का चिन्तन...... मात्र अब एक ही कार्य करना है और पर के विकल्पों को छोड़ना है।

✤ हे आत्मन् ! संसार के समस्त पदार्थों का परिणमन अपने-अपने उपादान से ही होता है, अन्य द्रव्य उसमें निमित्त अवश्य बनता है ऐसी श्रद्धा दृढ़ करके अपने स्वभाव को देखो कि मैं मात्र एक ज्ञानमय आत्मा हूँ।

✤ हे आत्मन् ! सत्य कहो - तुम्हें क्या कष्ट है जो तुम अपने आपको परेशान रूप अनुभव कर रहे हो। देखो और गहराई से चिन्तन करो कि जब तुम व्यर्थ के विकल्प जाल में अपना उपयोग फँसा लेते हो तभी दुखी होते हो जो स्वाभाविक ही है क्योंकि विकल्प, इच्छा, भ्रम, आकुलता और चिन्ता इन्हीं का नाम दुख है / विपत्ति है, तुम्हारे स्वभाव में कोई विपत्ति नहीं है, अतः तो जैसा है उसे वैसे का वैसा मानते जाओ फिर देखो तुम्हें कोई दुख या विपत्ति दिखाई देती है ? नहीं, कदापि नहीं......।

✤ हे आत्मन् ! अब तुम्हारी मनुष्य पर्याय का समय अति अल्प रहा है, इसके एक-एक निमिष का अत्यधिक मूल्य है अतः अपने उपयोग को मात्र अपने स्वभाव के चिन्तन में लगाओ, इसी उद्यम से समाधि की सिद्धि हो सकती है।

✤ हे आत्मन् ! तेरा यह उपयोग अपने निज भवन से निकल कर बाहर कहाँ दौड़ रहा है ? किसकी शरण खोज रहा है ? बाहर कौन तेरा हितैषी है ? तू जिनको हितकारी समझ रहा है वे सब भी रागरूपी भयंकर रोग के रोगी हैं, भला तू उनसे क्या आशा रखता है ? जब वे अपने भाव भी नहीं सम्हाल पाते तो तुझे क्या सहयोग देंगे ? वे अपने आत्मस्वभाव में स्वयं असमाधान हैं, असावधान हैं और असन्तुष्ट हैं तब उनसे तू क्या चाहता है ? उनसे क्या आशा रखता है ? देख ! मात्र देव-शास्त्र और गुरु के अतिरिक्त तू किसी की भी आशा मत कर, सहारा मत

ले। बार-बार बाहर मत जा, अपने ही घर में शान्ति से बैठ, तू अपने भवन का राजा स्वयं है। जैसे तू अपने घर का राजा है वैसे ही सब जीव और सब जड़ पदार्थ अपने-अपने राजा हैं। वे तेरी इच्छा के अनुरूप परिणमन नहीं कर सकते ऐसा तू दृढ़ विश्वास कर।

✤ हे आत्मन् ! तेरा घर अनेक समृद्धियों से भरा पड़ा है। ऐसा कौनसा अनुपम सुख है जो यहाँ नहीं है, कौनसा आनन्द एवं मंगल है जो यहाँ नहीं है ? मात्र दृष्टि डालने की देर है। तू दूसरों को प्रसन्न रखने का, अनुकूल रखने का और सदा समागम बनाये रखने का जो उद्योग करता है वह पत्थर से पानी, बालू से तेल और जल से मक्खन निकालने के सदृश निरर्थक है। अब तू बाह्य पदार्थों में विश्राम करना छोड़ दे। उनके लिए व्यर्थ परिश्रम करना छोड़ दे और स्वाधीन होकर अपने चैतन्य भवन में रहने की ललक को जागृत कर, इसी से तेरा कल्याण होगा।

✤ हे आत्मन् ! सच कहो कि तुम कौन हो ? क्या हो ? और इस समय तुम कैसे हो रहे हो ? तुम नहीं बता पा रहे हो इन प्रश्नों के उत्तर। कोई बात नहीं। घबराओ मत, उत्तर देने के लिए चिन्तन करो कि मैं अकेला हूँ, मेरे साथ कोई कर्म नहीं हैं, मेरी सत्ता में कोई विभाव भाव भी नहीं हैं, शरीर का भी मेरे साथ कोई सम्बन्ध नहीं है तथा मनुष्य, देव, स्त्री, पुरुष आदि - अन्त एवं विद्वान् - मूर्खादि की कोई भी उपाधि मेरे साथ नहीं लगी है। अब बताओ तुम क्या और कितने बचे ?

अब तुम मात्र एक सामान्य सत्ता रूप रहे। चैतन्य तुम्हारा स्वरूप रहा और ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव रहा। अब बताओ इस स्वरूप में तुम्हें कुछ कष्ट का अनुभव हो रहा है, कोई विपत्ति तुम्हें सता रही है, कोई तुम्हारा आत्मवैभव लूट रहा है, नहीं। तो बस! अब तुम अपने इसी स्वरूप का सतत चिन्तन करो।

✤ हे आत्मन् ! अपने चित्स्वरूप की ओर देखो और अपने आत्म-

स्वभाव के प्रतिनिधि बनकर सत्य बोलो कि यह अशान्ति किसकी है ? विवेक कहता है कि यह अशान्ति हमारे ही भीतर हो रही है किन्तु यह यथार्थतः हमारी नहीं है, क्योंकि पूर्व में जब हमारा परिणाम विकारी था तभी यह निर्णय हो चुका था कि यह कर्म किस स्वभाव का और कितना आ रहा है, हमारी इस आत्मा के साथ कितने काल पर्यन्त रहेगा तथा जाते समय क्या फल देकर जायेगा ? इन चार स्थितियों को जो सुनिश्चित करके आया है वह भला मेरा स्वभाव कैसे हो सकता है ?

- हे आत्मन् ! आत्मा में उत्पन्न होने वाले इन विकारों को भली प्रकार समझो। देखो ! पशु-पक्षी भी सम्यक्त्व धारण कर लेते हैं, नारकी जीव भयंकर वेदना काल में भी सम्यक्त्व धारण कर लेते हैं फिर तुम्हें तो ऐसा कोई कष्ट नहीं है। जब वे अल्प ज्ञानी जीव भी निज तत्त्व समझ सकते हैं तब तुम कैसे नहीं समझ सकते? यह कार्य भी बहुत कुछ अर्थों में पुरुषार्थसाध्य है अतः समीचीन पुरुषार्थ द्वारा अपना हित साधन करो।

- हे आत्मन् ! तुम्हारे कार्य की सिद्धि में भगवान जिनेन्द्र के दर्शन, पूजन, भक्ति और उनकी आज्ञा का पालन सबसे बड़े सम्बल हैं। भगवान के दर्शन प्रतिदिन करते हैं फिर भी हम जहाँ थे वहीं हैं। कारण कि दर्शन का रहस्य हमें समझ में नहीं आया। उसका रहस्य यह है कि जैसे समवसरण में भगवान के शरीर का दर्शन चक्षुओं से होता है किन्तु उनके गुणों का दर्शन ज्ञान से होता है, वैसे ही मन्दिर में स्थापित मूर्ति के दर्शन भी चक्षु और ज्ञान से होते हैं। अपनी-अपनी आँखों से तो बालगोपाल, पण्डित-मूर्ख तथा नर-नारी सभी दर्शन करते हैं, परन्तु ऐसे दर्शन से हमारे यथार्थ कार्य की सिद्धि नहीं हुई और न हो रही है.....। कार्य की सिद्धि तो तभी होगी जब हम चक्षुओं के साथ-साथ ज्ञान से भी भगवान के दर्शन करेंगे। ज्ञानचक्षुओं से इष्ट दर्शन कर पाना अत्यन्त दुर्लभ कार्य है क्योंकि हमारे ज्ञानचक्षु राग-द्वेषादि अनेक विभाव भावों से मलिन हो रहे हैं, इन्हें हटाना अति दुर्लभ है।

✤ हे आत्मन् ! दर्शन करने के लिए जब मन्दिर जी में प्रवेश करते हैं तब निःसही, निःसही, निःसही शब्दों का उच्चारण करते हैं, जिसका अर्थ होता है, मार्ग दो, मार्ग दो, मार्ग दो, या हटो, हटो, निकलो, निकलो, निकलो। अर्थात् कोई देव, मनुष्य या स्त्री आदि भगवान के सामने खड़े हों तो वे मुझे दर्शनार्थ स्थान दें। ये देव और मनुष्यादि यथार्थतः हमारे दर्शन में इतने बाधक नहीं हैं जितने बाधक हमारे राग, द्वेष, मोह, क्रोध, लोभ, दुकान के विकल्प एवं घर के विकल्प हमारे बीच आड़े आकर दर्शन में बन रहे हैं। निःसही शब्दों का उच्चारण करके सर्वप्रथम उन विकारी भावों को लक्ष्य कर कहना चाहिए कि तुम दूर हट जाओ, मेरे और मेरे प्रभु के बीच आड़े मत आओ, मुझे यह कल्याणकारी वीतराग छवि भले प्रकार निरखने दो........।

✤ हे आत्मन् ! देख और सचेत हो ! अब समय अधिक नहीं है। अब शीघ्र ही इस मोहजाल को छोड़ दो। जैनागम में ऐसा अपूर्व तत्त्वज्ञान बताया गया है जिसके अवलम्बन से अतिशीघ्र मोह परास्त हो जाता है। नियमसार गाथा आठ में जिनेन्द्रमुखोद्भूत वाणी को आगम कहा है और उसी आगम को तत्त्व कहा गया है तथा गाथा नौ में जीवादि छह द्रव्यों को तत्त्वार्थ कहा गया है। आगम में तत्त्वार्थश्रद्धान का नाम सम्यग्दर्शन अर्थात् मिथ्यात्व का विलय है। इसका भाव यह है कि जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश इनमें समान रूप से अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व और प्रमेयत्व ये छह साधारण गुण पाये जाते हैं, इनमें **अस्तित्वगुण** प्रत्येक द्रव्य के 'सत् / है' को स्वीकार करता है। अर्थात् प्रत्येक पदार्थ सत्ता स्वरूपी है। **वस्तुत्व गुण** का कहना है कि प्रत्येक द्रव्य सत्तावान है, यह सत्य है किन्तु वह अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप स्वचतुष्टय से ही सत् है पर-चतुष्टय से नहीं। तब **द्रव्यत्व गुण** का कथन है कि तुम अपने स्वचतुष्टय से सत् रहो किन्तु किसी भी काल एवं क्षेत्र में उत्पाद और व्यय से भिन्न नहीं रह सकते, तुम्हें

निरन्तर परिणमन करते रहना होगा, तभी अगुरुलघु गुण बोल उठा कि यदि तुम्हारा स्वभाव परिणमन करने का है तो परिणमन करो किन्तु तुम अपने-अपने में ही परिणमन कर सकते हो, अन्य में नहीं। प्रदेशत्व गुण अपना-अपना आधार अर्थात् क्षेत्र निर्धारित करता है। प्रमेयत्व गुण प्रत्येक द्रव्य को व्यवस्था देता है कि तुम किसी-न-किसी ज्ञान के द्वारा जाने ही जाओ। इस प्रकार छहों गुणों ने प्रत्येक द्रव्य की स्वतन्त्रता को कवलित कर अपने-अपने वज्रमयी कोट में सुरक्षित रख छोड़ा है। इस वस्तु स्वातन्त्र्य पर यदि अटल विश्वास हो जाये तो एक क्षण में मोह का विलय हो जाये।

- हे मेरी प्रिय समीचीन श्रद्धा ! तुम अपने आत्मभवन को छोड़कर कहाँ चली जाती हो ? तुम अनादि काल से बाहर-बाहर विचरण कर रही हो, ऐसा क्यों ? तुम देखो ! इससे आत्मा का कितना अहित हुआ है। अब इस पर्याय का विलय होने वाला है अतः तुम्हें अब एक क्षण के लिए भी आत्मभवन छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जाना है, साथ-साथ ही चलना है। यदि इस बार भी तुमने कहीं छोड़ दिया तो यह व्रत, उपवास, अध्ययन, लेखन, स्वाध्याय एवं तप सब निरर्थक हो जायेंगे। यदि तुम्हारी अवस्थिति अपने स्वघर पर रहती है तो समझो कि कल्याण दूर नहीं है।

- हे सच्चिदानन्द आत्मन् ! तुम अनादिकाल से स्वयं अपने स्वरूप को नहीं पहिचान पाये ? यह महाश्चर्य है......। अभी भी सँभल जाओ और देखो ! जैसे शक्कर मिले हुए दूध में भी शक्कर के अविभागी प्रतिच्छेद भिन्न हैं और दूध के भिन्न हैं, इसी प्रकार तुम्हारे भीतर कर्मोदय से उठने वाले विभाव भावों के अविभागी - प्रतिच्छेद भिन्न हैं और ज्ञान के अविभागी प्रतिच्छेद भिन्न हैं, इस पर दृढ़ श्रद्धा रखो। श्रद्धा बिना सम्यक्त्व नहीं होगा और सम्यक्त्व बिना भवभ्रमण नहीं छूटेगा।

- हे आत्मन् ! जैसे तुम आहार आदि घटाकर शरीर को कृश करने

में दत्तचित्त हो उसी प्रकार चारों आराधनाओं की शुद्धि में संलग्न रहो। अरहन्त, सिद्ध, साधु और सर्वज्ञदेव द्वारा कहे हुए धर्म का ही शरण पकड़ो, आत्मा का ध्यान करो, णमोकार मन्त्र का जाप करो, प्रणवरूप ओंकार की ध्वनि लगाओ, सोऽहं-सोऽहं का ही ध्यान करो, अनहद नाद सुनो, भगवान जिनेन्द्र को हृदय में धारण कर ध्यान करो और धर्मध्यान में लीन रहो।

✤ हे आत्मन् ! तुम्हें ज्ञात है कि तुम्हारे इस चैतन्य भवन का प्रहरी सम्यग्दर्शन है। इस प्रहरी पर विशेष ध्यान रखना, यह कहीं अपना काम छोड़कर भाग न जाये। इस भवन में गुप्त रूप से रखे हुए सारे माल-खजाने इस प्रहरी की दृष्टि में हैं। यदि यह चला गया तो मिथ्यात्व तस्कर जाकर सर्व धन हरण कर ले जायेगा फिर दीन-हीन भिखारी बन द्वार-द्वार भटकना पड़ेगा अत: इस पर निरन्तर दृष्टि रखना और इसके संगी-साथियों को भी खुश रखना।

✤ हे मेरे सम्यग्दर्शन ! अब इस समय मुझे तुम्हारा ही सहारा है। तुम मेरे सच्चे हितैषी हो, तुम्हारे ही सहारे मैंने यह दुस्साध्य कदम उठाया है, तुम्हीं इस नाव के नाविक हो, तुम्हीं डूबते के सहारे हो और अन्धे की लकड़ी हो। तुम्हारे साथ मैंने कितना ही अन्याय किया हो, अवज्ञा की हो तथा अपमान किया हो किन्तु तुम मुझे क्षमा करना। मैं अन्त:करण से क्षमा याचना करती हूँ और विनय करती हूँ कि तुम मेरे होकर मुझे मझधार में नहीं छोड़ देना.........।

✤ हे मेरे चित्स्वभाव ! तुम अनादिकाल से कहाँ छिपे पड़े हो ? देखो ! इस लुका - छिपी से आत्मा को कितने दुख भोगने पड़े हैं । अब देखो ! जब एक बार साक्षात्कार हो चुका है, तुम पहिचान में आ चुके हो तब अब फिर कहीं छिप जाने का असफल प्रयास नहीं करना क्योंकि अब मैं सतर्क हूँ।

✤ हे आत्मन् ! तुम स्व-पर-प्रकाशक हो अत: आत्मज्ञान के लिए अन्य सहायकों की वांछा छोड़कर अपने ही स्वसंवेदनज्ञान से

उसे प्रत्यक्ष करो। इसके लिए समीचीन श्रुत का अवलम्बन अति आवश्यक है अतः स्वाध्याय में उपयोग अधिक लगाओ।

- हे आत्मन् ! तुम्हारा लक्षण 'चित्त' है। इस चित्त की दो वृत्तियाँ होती हैं, दृशि और ज्ञप्ति अर्थात् देखना और जानना। देखने का काम दर्शन का है और जानने का काम ज्ञान का है। चक्षुदर्शनोपयोगादि के भेद से दर्शनोपयोग चार प्रकार का है और मतिज्ञानोपयोग आदि के भेद से ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का है, इनमें से केवलदर्शनोपयोग और केवलज्ञानोपयोग को छोड़कर शेष सभी उपयोग कर्मबन्ध के कारण हैं। जब तक तुम्हारा उपयोग पर-पदार्थों में, पर-परिणतियों में और मिथ्या अध्यवसानों में घूमता रहेगा तब तक आस्रव-बन्ध होता रहेगा। अतः अपने कल्याण हेतु तुम इस उपयोग को अपने भवन से बाहर मत जाने दो।
- हे आत्मन् ! उपेय की प्राप्ति समीचीन उपायों से ही होती है अतः तुम्हें समीचीन उपाय करने का ही पुरुषार्थ करना चाहिए।
- हे आत्मन् ! सच्चे व शाश्वत सुख की प्राप्ति अध्यात्म-चिन्तन से होती है। इससे भिन्न अन्य कोई दूसरा समीचीन उपाय नहीं है और इस अध्यात्म-चिन्तन के लिए उत्साह, स्थिर विचार, धैर्य, सन्तोष, तत्त्वदर्शन और जनसंसर्ग त्याग, यह छह प्रकार की सामग्री आवश्यक है अतः तुम सर्वप्रथम इस सामग्री को एकत्र करने का समीचीन पुरुषार्थ करो।
- हे आत्मन् ! तुम पवित्र ध्यान को तभी प्राप्त हो सकते हो जब आगम ज्ञान द्वारा, समीचीन युक्ति या अनुमान द्वारा और ध्यानाभ्यास रूप रस के द्वारा अपनी बुद्धि विशुद्ध करोगे।
- हे आत्मन् ! कर्मभूमि में मनुष्यता, चारित्र, समाधि का अनुष्ठान और उत्कृष्ट ध्यान बीज को प्राप्त कर भी यदि प्रशस्त ध्यान रूपी खेती नहीं की तो तुम मूर्ख एवं तुच्छ बुद्धि ही हो।
- हे आत्मन् ! रत्नत्रय धर्म में और चार आराधनाओं में दृढ़ एवं

गाढ़-अनुराग, रुचि तथा प्रतीति होना धर्मानुराग है अतः यदि तुम इस भव-भ्रमण से छूटना चाहते हो तो अपने उपयोग को चार आराधनाओं में ही रंजायमान रखो, उसे अन्यत्र मत भटकने दो।

✤ हे आत्मन् ! यदि तुम्हें सर्व तत्त्वों का अथवा एक तत्त्व का भी तलस्पर्शी ज्ञान नहीं है तो भी चिन्ता मत करो। तुम तो मात्र ऐसी दृढ़ श्रद्धा बनाये रखो कि जिनेन्द्रदेव ने जो तत्त्व जैसे कहे हैं, वे सत्य ही हैं, क्योंकि जिनेन्द्रदेव द्वारा कहा हुआ तत्त्व कभी असत्य होता ही नहीं है। तत्त्वों के स्वरूप से अनभिज्ञ अंजन चोर सदृश दृढ़ श्रद्धा का नाम ही **भावानुराग** है। इस भावानुराग का आश्रय लेकर अनेकानेक जीवों ने परम सुख प्राप्त कर लिया है अतः तुम भी इस भावानुराग को आत्मसात् करके अपनी नाव किनारे तक ले जाओ। देखो ! कहा भी है-

कीजे शक्ति प्रमाण, शक्ति बिना श्रद्धा धरे।
द्यानत श्रद्धावान, अजर अमर पद भोगवे॥

✤ हे आत्मन् ! जैसे पाँचों पाण्डवों में जन्म से ही अतिशय एवं स्वाभाविक निःस्वार्थ अनुराग था, वैसे ही जिनेन्द्र प्रतिपादित तत्त्व में स्वाभाविक अतिशय अनुराग होना, **मज्जानुराग** है। ऐसा अनुराग भी संसार से पार उतरने के लिए नौका सदृश है अतः तुम अपनी समाधि सुचारु रीत्या सम्पन्न करने हेतु चार आराधनाओं में एवं तत्त्वों में सोत्साह मज्जानुराग से अनुरंजित रहो। अर्थात् आराधनाओं की आराधना में स्वाभाविक अतिशय प्रीति रखो।

जिसके ऊपर अनुराग है उसे बार-बार समझाकर अर्थात् उसके पीछे पड़कर उसे सन्मार्ग में लगाकर ही विराम लेना **प्रेमानुराग** है। हे आत्मन् ! सर्वत्र चंक्रमण करने वाले इस चंचल मन को पुनःपुनः समझाकर चार आराधनाओं में और कठिन उद्यम से प्राप्त रत्नत्रय में अनुरंजित करने का सतत पुरुषार्थ करो, क्योंकि यह प्रेमानुराग ही तुम्हारे दुःख रूपी अंकुरों को उखाड़ फेंकने में समर्थ है।

✤ हे आत्मन् ! तुम सम्यग्दर्शन को अपना साथी बनाये रखना चाहते हो तो सुनो। महापुराण पर्व २१ में इसकी सात भावनाएँ कही हैं, तुम इन भावनाओं का निरन्तर चिन्तन करो तो सम्यक्त्व सदैव तुम्हारे निकट ही रहेगा।

✤ सम्यक्त्व की सात भावनाएँ १. **संवेग** - संसार से भयभीत होना। २. **प्रशम** - सदैव शान्त परिणाम रखना। ३. **स्थैर्य** - प्रतिकूल परिस्थिति में भी धैर्य रखना। ४. **असंमूढ़त्व** - सिद्धान्तों पर दृढ़ रहना, किसी भी परिस्थिति में मूढ़ नहीं बनना। ५. **अस्मय** - किसी भी प्रकार का गर्व नहीं करना। ६. **आस्तिक्य** - जिनेन्द्र देव द्वारा कहे हुए सात तत्त्व, नौ पदार्थ और छह द्रव्यों के साथ-साथ अपनी आत्मा के ज्ञायक स्वभाव पर दृढ़ श्रद्धा रखना। अर्थात् शरीर एवं विभाव भावों से अत्यन्त भिन्न अपनी आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व पर श्रद्धा रखना। ७. **अनुकम्पा** - अपनी आत्मा सहित प्राणिमात्र पर अनुकम्पा रखना।

✤ हे आत्मन् ! सम्यग्ज्ञान की पाँच भावनाओं का भी चिन्तन करना चाहिए। देखो ! पाँचों प्रकार के स्वाध्याय ही पाँच श्रुत भावनाएँ हैं। जो इन श्रुतभावनाओं से अपनी आत्मा को भावित करता है वही भव्यात्मा दर्शन, ज्ञान, संयम, चारित्र और तप में परिणत होता है अत: अपने उपयोग को अपने ही निज भवन में रोक कर निरन्तर श्रुतभावनाओं से उसे भावित करो, इसी से तुम्हारा प्रयोजन सिद्ध हो जायेगा।

✤ हे आत्मन् ! तुम पहले भी चैतन्य स्वरूप थे, आज भी चैतन्य स्वरूप हो और भविष्य में भी चैतन्य स्वरूप ही रहोगे क्योंकि तुम स्वभाव से चिद्द्रव्यमय ही हो।

✤ हे आत्मन् ! तुम्हारी निज वस्तु तुम ही हो ऐसा दृढ़ विश्वास करो। जिस शरीर में तुम रह रहे हो वह छिद जाय या भिद जाय, या जल जाय, या जीर्ण-शीर्ण हो जाय, इस जड़ स्वरूप एवं मल से भरे हुए शरीर से तुम्हें क्या ?

- हे आत्मन् ! तुम्हें समाधिमरण का यह सर्वोत्तम समय प्राप्त हुआ है अतः आराधना सहित ही मरण हो इसके लिए पूर्ण प्रयत्न करो। चिन्तन करो कि मैं ज्ञानदर्शन स्वभाव वाला हूँ, एक हूँ सदा नित्य हूँ, जन्म-जरा और मृत्यु से रहित हूँ पर - द्रव्यों से भिन्न हूँ, अनन्त गुणों का भण्डार हूँ और मैं ही मेरा स्वामी हूँ।

हे आत्मन् ! विश्वास करो कि -

- मिथ्यात्व सदृश कोई विपरीत भाव नहीं।
- परिग्रहधारी सदृश अन्य कोई कुगुरु नहीं।
- खोटे शास्त्रों के सदृश कोई अन्य भ्रम में डालने वाला नहीं।
- मोहनीय कर्म सदृश अन्य कोई भव-भ्रमण कराने वाला नहीं।
- परद्रोह-सदृश कोई अन्य पाप नहीं।
- रागादि सदृश अन्य कोई मोक्ष का बाधक नहीं।
- चोरी के समान प्रपंच का अन्य कोई मूल नहीं।
- मिथ्यात्व के कारणभूत लोभ सदृश अन्य कोई पाप नहीं।
- क्रोधी सदृश अन्य कोई निर्दय नहीं।
- तृष्णावान सदृश अन्य कोई परिग्रहधारी नहीं।
- इन्द्रिय भोग सदृश अन्य कोई भयंकर रोग नहीं।
- चिन्ता सदृश अन्य कोई दुःख या शोक नहीं।
- अभ्यन्तर बेचैनी सदृश अन्य कोई आकुलता नहीं।
- अज्ञान के समान और कोई अन्य संशय करने वाला नहीं।
- दुर्नय सदृश अन्य कोई विरोधी नहीं।
- दुर्बुद्धि सदृश अन्य कोई डाकिनी नहीं।
- तृष्णा सदृश अन्य कोई व्याधि नहीं।

- हे आत्मन् ! जैसे शीतल स्वभावी होते हुए भी जल अग्नि के संयोग से खौलता रहता है और उस अवस्था में जो उसका स्पर्श करता है उसे वह जल, अग्नि सदृश ही जला देता है अर्थात् अग्नि के संयोग से जल का निज स्वभाव तिरोहित हो जाता है, वैसे ही मोहादि विभाव भावों से बन्ध को प्राप्त हुए द्रव्य कर्म अपने उदयकाल में जीव को इतना प्रभावित कर देते हैं कि उसका अपने ज्ञान एवं आत्मोत्थ सुख का तिरोभाव जैसा हो जाता है तब यह जीव अज्ञानी बन कर उस कर्मोदय के कटु फल का अनुभव करता हुआ दुखी एवं व्यथित हो जाता है।
- हे आत्मन् ! अज्ञानी मनुष्य भी भोज्य पदार्थों का संचय करके रखता है, भूख लगने पर वह उस सुरक्षित भोज्य पदार्थ का उपभोग कर तृप्त हो जाता है, फिर तुम तो ज्ञानी हो, पूर्व संचित एकत्वभावना, श्रुतभावना, तपभावना, धृतिभावना एवं सत्त्वभावनाओं का संस्कार रूपी अमृतमयी भोजन कर तृप्त क्यों नहीं हो जाते? क्यों अपना स्वभाव भूल रहे हो ? घोरोपसर्ग सहन करने वाले महापुरुषों के सदृश दृढ़ता क्यों नहीं रखते ?

❑ ❑ ❑

सच्चे सुख की प्राप्ति का उपाय

हे भव्यजीव ! तुम्हें जो अत्यन्त दुर्लभ यह मनुष्य पर्याय, उत्तम धर्म, उत्तम कुल और हिताहित को समझने योग्य विवेक बुद्धि प्राप्त हुई है उनका सदुपयोग करो, अर्थात् कम-से-कम तुम अपने आपको तो पहिचानो कि "मैं कौन हूँ ? क्या हूँ ? और कैसा हूँ"? देखो ! जैसे पात्र के आधार बिना जल एवं ईंधन के आधार बिना अग्नि नहीं मिल सकती, वैसे ही इस संसार में शरीर के आधार बिना आत्मा नहीं रह सकता। जैसे दूध में घी तथा चकमक पत्थर में अग्नि होते हुए भी दिखाई नहीं

देते, वैसे ही तुम्हारे इस शरीर के भीतर आत्मा है किन्तु वह दिखाई नहीं देती, फिर भी जैसे यह अटल विश्वास है कि "दूध में घी है" ऐसा ही अटल विश्वास होना चाहिए कि मेरे इस शरीर में आत्मा है। जैसे पात्र जड़ हैं और उसमें रखा हुआ जल जीव है वैसे ही तुम्हारा यह शरीर जड़ है और इसके भीतर अथवा इसके माध्यम से रहने वाला आत्मा जानने-देखने वाला / चैतन्य स्वभावी है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि जब तक शरीर में आत्मा रहता है यह तभी तक क्रिया करता है, आत्मा निकल जाने के बाद इसे मुर्दा कहकर जला देते हैं। हे भव्यात्मन्! कहो ! तुम्हें अपनी आत्मा का कुछ अनुभव हो रहा है? यदि नहीं तो पुनःपुनः देखो। जैसे कमरे की खिड़की देख रही है या खिड़की के समीप खड़ा व्यक्ति देख रहा है ? इसी प्रकार जब तुम स्वयं बोलते हो या अनुभव करते हो कि मैंने अपनी 'आँख से देखा', 'कान से सुना', 'नाक से सूंघा' और 'जिह्वा से चखा' तब बताओ कि इसमें देखने-सुनने वाला कौन रहा ? आँख-कान रहे या अन्य कोई ? देखो ! सुनो और समझो कि आँख, कान एवं नाक आदि तो इस शरीर रूपी मकान की खिड़कियाँ हैं अतः वे जड़ हैं और चैतन्य स्वभावी आत्मा भिन्न है। हमारी यह भूल है कि हम जानने वाले को / देखने वाले को / सुनने वाले को नहीं जानते, उन खिड़कियों को / मन-वचन-काय को ही देखने-सुनने वाला आत्मा समझ बैठे हैं। यह अनादिकालीन भूल ही हमारे दुख का कारण है। अब अन्य प्रकार से चिन्तन करो अर्थात् कुछ समय के लिए अपने शरीर, इन्द्रियों, मन, वचन, कर्म, नोकर्म और भावकर्मों को अपने से अत्यन्त दूर कर दो......। अब ध्यान से देखो कि तुम क्या बचे? जो बचे हो, वही तो तुम्हारी आत्मा है। इस प्रकार शरीरादि को पृथक् करने में कोई कष्ट हुआ ? नहीं। क्यों नहीं हुआ ? इसलिए नहीं हुआ कि पुद्गल रूप कर्म, नोकर्म और शरीरादि की सत्ता भिन्न है और आत्मा की सत्ता भिन्न है। एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध होने पर सत्ता भिन्न-भिन्न कैसे हो सकती है ? यदि ऐसा प्रश्न करते हो तो देखो ! कि एक गिलास में पानी, नीबू और शक्कर से बनी हुई सिकंजी रखी हुई है। तीनों इस प्रकार मिले हुए हैं कि अब अलग नहीं हो सकते फिर भी नीबू की

और शक्कर आदि की अपनी-अपनी सत्ता पृथक्-पृथक् ही है। इसी कारण पीते समय हमें खट्टे नीबू का भी स्वाद आ रहा है और मीठी शक्कर का भी। विवेकीजन इस रहस्य को समझते हैं, अज्ञानी जन नहीं।

आत्मा के भिन्न अस्तित्व की या उसके शुद्ध स्वभाव की श्रद्धा दृढ़ करने हेतु तुम एक अन्य प्रकार से भी चिन्तन कर सकते हो। देखो और बताओ कि मैंने कैसी साड़ी पहिन रखी है ? श्वेत। क्योंकि आर्यिकाएँ श्वेत साड़ी ही पहनती हैं, यह एक दृढ़ सिद्धान्त है, फिर भी जिसे पीलिया रोग हो गया है उसे यह साड़ी पीली दिख रही है और जब वह साड़ी को साक्षात् पीली देख रहा है तब भला वह उसे श्वेत कैसे स्वीकार कर सकता है ? स्वीकारता तो तभी हो सकती है जब उसके सिद्धान्तादि पर विश्वास हो। यथा - उसे सिद्धान्त पर अटल विश्वास हो कि आर्यिकाएँ नियमत: श्वेत साड़ी ही पहनती हैं। अथवा उन महापुरुषों के वचनों पर विश्वास हो जो उसे श्वेत कह रहे हैं। अथवा अपने पीलिया रोग पर विश्वास हो जिसके कारण उसे श्वेत का पीला दिख रहा है, अथवा साड़ी का मूलभूत पदार्थ कपास है और वह कभी पीला उत्पन्न नहीं होता। उस रोगी को यदि इन सिद्धान्तों में से किसी एक पर ही विश्वास हो जाय तो उसकी श्रद्धा समीचीन हो जाये।

इसी प्रकार मिथ्यात्व से ग्रसित जो जीव पौद्गलिक शरीर को ही आत्मा मान रहे हैं उन्हें यदि मूल सिद्धान्त पर विश्वास हो जाये कि जड़ कभी चेतन नहीं हो सकता अथवा जिनेन्द्र अन्यथावादी नहीं होते और उन्होंने ही कहा है कि शरीर एवं आत्मा की सत्ता अनादि काल से ही भिन्न-भिन्न है। अथवा मेरे कोई मिथ्यात्व कर्म प्रकृति का तीव्र उदय है जिससे जिनेन्द्र द्वारा कहे हुए आत्मस्वरूप पर श्रद्धा नहीं हो पा रही है अथवा जड़ स्वभावी शरीर, आत्मा के समान कभी जानने-देखने के स्वभाव वाला नहीं हो सकता क्योंकि वस्तु का स्वभाव स्थायी रहता है।

इस प्रकार के समीचीन ऊहा-पोह से या तत्त्व-चिन्तन से या गुरु के सदुपदेश से आत्मश्रद्धा समीचीन हो जाने पर ज्ञान भी समीचीन हो

जाता है। सम्यग् श्रद्धा और ज्ञान हो जाने पर चारित्र और तप में समीचीन पुरुषार्थ कर हमें आत्मा का कर्म और नोकर्म से सदा के लिए सम्बन्ध-विच्छेद कर शाश्वत सुख प्राप्त कर लेना चाहिए।

जैसे अग्नि में सोलह ताव दिये बिना स्वर्ण कभी शुद्ध नहीं होता वैसे ही ध्यानादि तप बिना आत्मा शुद्ध नहीं होती। तपों का प्रभाव शरीर पर बहुत अधिक पड़ता है और जब आत्मा को ही मात्र शुद्ध करना है तब शरीर को कष्ट देने से क्या लाभ ? इसका समाधान यह है कि विधिवत् सम्पूर्ण क्रिया सम्पन्न कर छाछ में से मक्खन उठा लिया है किन्तु अब घी की प्राप्ति कैसे हो ? मक्खन को गर्म करने से। तब मक्खन को जलते हुए अंगारों पर रख देना चाहिए। नहीं नहीं, इस प्रक्रिया से तो घृत प्राप्त नहीं हो सकता। तब ? तब क्या ! उस मक्खन को एक बर्तन में रखकर अग्नि पर रखना चाहिए। बर्तन गरम होगा तब मक्खन गरम होगा, उसका मैल जलेगा तब घृत प्राप्त होगा। बर्तन और मक्खन के सदृश शरीर और आत्मा की सत्ता भिन्न-भिन्न होते हुए भी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध ऐसे ही हैं, अतः बाह्याभ्यन्तर तपों के आचरण से सर्वप्रथम शरीर तपता है, तत्पश्चात् आत्मा प्रभावित होती है। मन और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त हो जाती है और ध्यानाग्नि से कर्म-नोकर्म रूप मल जल कर नष्ट हो जाते हैं। पश्चात् आत्मा सदा के लिए स्वतन्त्र और सुखी हो जाती है।

❑ ❑ ❑

कर्म एवं उससे मुक्त होने के उपाय

हे भव्य ! जैसे खान से निकला हुआ कनकोपल नियमतः किट्ट कालिमा युक्त ही होता है, वैसे तुम्हारी यह आत्मा अनादि काल से स्वयमेव कर्ममल से युक्त होने के कारण अशुद्ध है।

देखो ! जिन कर्मों के सम्पर्क से तुम संसार में भ्रमण करते हुए भयंकर दुख उठा रहे हो भला बताओ तो कि उस कर्म का क्या लक्षण है ? भेद-प्रभेद कितने हैं ? वे कैसे बँधते हैं ? कितने उदय में आते हैं और कहाँ कितने छूटते हैं? क्या तुम कुछ नहीं जानते ? आश्चर्य-महाश्चर्य ! जो शत्रु अनादिकाल से साथ-साथ रह कर तुम्हें दुख दे रहा है उसे तुम पहिचानते भी नहीं हो ? अच्छा अब सुनो......।

जो आत्मा के निज स्वभाव को प्रगट न होने दे उसे कर्म कहते हैं। इन कर्मों की सन्तति अनादिकालीन है। जैसे कोई कर्जदार किसी अन्य से कर्ज लेकर दूसरे कर्जदार का कर्ज चुका देता है, इस प्रकार की प्रक्रिया से वह दूसरों का कर्जा चुकाते हुए भी स्वयं कर्ज से मुक्त नहीं हो पाता। तुम जैसे अज्ञानी प्राणी पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति पूर्ण होने पर उनका फल भोग लेते हैं और उनके ही उदय से होने वाले अपने अध्यवसानों एवं मनोविकारों की तरतमता से अनेक प्रकार का कर्मबन्ध पुनः कर लेते हैं।

देखो ! सामान्य अर्थात् पुद्गल द्रव्य की अपेक्षा कर्म एक प्रकार का है। द्रव्यकर्म एवं भावकर्म की अपेक्षा दो प्रकार का है। स्वभाव की अपेक्षा यही कर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र तथा अन्तराय के भेद से आठ प्रकार का है। इन्हीं के उत्तर भेद करने पर १४८ प्रकार का है एवं परिणामों की अपेक्षा असंख्यात लोक प्रमाण भेद वाला है। इन आठ कर्मों के घातिया और अघातिया रूप दो भेद हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये घातिया कर्म हैं क्योंकि ये कर्म जीव के आत्मगुणों का घात करते हैं।

घातिया कर्मों की ४७ प्रकृतियाँ हैं। यथा - मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण, ये पाँच प्रकृतियाँ ज्ञानावरणकर्म की हैं। स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, निद्रा, प्रचला, चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण ये नौ प्रकृतियाँ दर्शनावरण कर्म की हैं। मिथ्यात्व, सोलह कषाय और हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद और पुरुषवेद ये २६ प्रकृतियाँ मोहनीय कर्म की हैं तथा दानान्तराय लाभान्तराय भोगान्तराय,

उपभोग-अन्तराय और वीर्यान्तराय ये पाँच प्रकृतियाँ अन्तराय कर्म की हैं। इस प्रकार घातिया कर्मों की (५+९+२८+५) ४७ प्रकृतियाँ हैं। ये सभी अप्रशस्त / पाप प्रकृतियाँ हैं।

अघातिया कर्मों की प्रकृतियाँ : आयुकर्म के चार भेद हैं - नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु।

नामकर्म के ९३ भेद हैं - चार गति, पाँच जाति, पाँच शरीर, पाँच बन्धन, पाँच संघात, छह संस्थान, तीन अंगोपांग, छह संहनन, पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस, आठ स्पर्श, चार आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, दो विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशस्कीर्ति, निर्माण, तीर्थंकर। त्रसादि के उलटे स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और अयशकीर्ति। उच्चगोत्र और नीच गोत्र के भेद से गोत्र कर्म दो प्रकार का है तथा साता वेदनीय और असाता वेदनीय के भेद से वेदनीय कर्म दो प्रकार का है। इस प्रकार आठ कर्मों की कुल (४७+४+९३+२+२) १४८ प्रकृतियाँ हैं। ये १४८ प्रकृतियाँ सत्ता में रहती हैं किन्तु बन्ध एवं उदय १४८ का नहीं होता क्योंकि ५ बन्धन तथा पाँच संघात पाँच शरीरों में अन्तर्भूत हो जाते हैं और वर्णादि की २० प्रकृतियाँ भी वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श रूप चतुष्क में गर्भित हो जाती हैं अतः वर्णादि १६ का वर्णादि चतुष्क के साथ और बन्धन - संघात, इन दस का ५ शरीरों के साथ बन्ध-उदय होता है। ये (१०+१६) २६ प्रकृतियाँ कम कर देने से (१४६-२६) १२० प्रकृतियाँ बंध योग्य हैं और इनमें मिश्रमोहनीय तथा सम्यक्त्व मोहनीय ये दो प्रकृतियाँ और मिला देने से उदय योग्य प्रकृतियाँ १२२ हैं। ये दो प्रकृतियाँ पहले १४८ में से घटाकर १४६ कही गई हैं क्योंकि इन दो प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है।

हे भव्यात्मन् ! चार गति और चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करते हुए जब-जब तुमने मिथ्यात्व नामक प्रथम गुणस्थान में वर्तन किया है तब-तब बन्ध योग्य इन १२० प्रकृतियों में से आहारक शरीर, आहारकांगोपांग और तीर्थंकर इन तीन के अतिरिक्त सामान्य से ११७ पकत्तियों का

बन्ध करते रहे हो तथा उदय योग्य १२२ प्रकृतियों में से आहारकद्विक, तीर्थंकर, मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृतियों के अतिरिक्त सामान्य से ११७ प्रकृतियों के उदय में नाना प्रकार के कष्ट भोगते रहे हो। तुम्हारा अनन्तकाल इसी गुणस्थान में व्यतीत हुआ है। इस संसार में आत्मा के अहितकर जितने भी कार्य हैं वे सब तुमने अनन्त बार किये हैं और भयंकर दुख भोगे हैं फिर भी तुम्हें समझ नहीं आई ? हे भव्य ! अब चेतो और ऐसा पुरुषार्थ करो कि फिर इस गुणस्थान में न आना पड़े। इस गुण-स्थान के अन्तिम समय में मिथ्यात्व, हुंडक संस्थान, असम्प्राप्तासृपाटिका संहनन, नपुंसक वेद, एकेन्द्रिय जाति, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, विकलत्रय, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी और नरकायु इन १६ प्रकृतियों की बन्ध से व्युच्छित्ति हो जाती है। अर्थात् ये १६ प्रकृतियाँ प्रथम गुणस्थान से आगे नहीं बँधती हैं।

हे भव्यात्मन् ! यदि तुम कभी सासादन नामक दूसरे गुणस्थान में गये तो वहाँ इन १६ प्रकृतियों को छोड़कर (११७-१६=) १०१ प्रकृतियों का बन्ध करते रहे और वहाँ छह आवली पर्यन्त १०६ प्रकृतियों के उदय का फल भोगते रहे। इस गुणस्थान के अन्त में अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ की उदय व्युच्छित्ति हो जाती है। अर्थात् इससे आगे इनका उदय नहीं पाया जाता। इस गुणस्थान में बन्ध व्युच्छित्ति २५ प्रकृतियों की होती है।

हे भव्यात्मन् ! जब कभी तुम मिश्र नामक तीसरे गुणस्थान में आये तब तुमने ७४ कर्मप्रकृतियों का बन्ध किया। इस गुणस्थान में कोई भी प्रकृति बन्ध से व्युच्छिन्न नहीं होती। इस गुणस्थान में तुम मात्र एक अन्तर्मुहूर्त काल ही रहे किन्तु उतने में ही तुमने उदयगत १०० प्रकृतियों का फल भोगा। इस गुणस्थान के अन्त में २२ प्रकृतियों की उदय-व्युच्छित्ति होती है।

हे भव्य ! महान् पुण्योदय से तुमने कभी अतिदुर्लभता से प्राप्त होने वाला असंयत नामक चतुर्थ गुणस्थान प्राप्त कर लिया तो वहाँ ७७ प्रकृतियों का बन्ध किया। तीसरे गुणस्थान में ७४ का बन्ध था। इस गुणस्थान में आते ही तीर्थंकर प्रकृति तथा देवायु और मनुष्यायु का भी

न्ध होने लगता है। इस गुणस्थान के अन्त में दश प्रकृतियों की बन्ध व्युच्छित्ति होती है। इस गुणस्थान का बहुत लम्बा काल है। सर्वार्थसिद्धि के देव ३३ सागर पर्यन्त इसी गुणस्थान में वर्तन करते हैं। इसका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। इस गुणस्थान में जीव सामान्य से १०४ प्रकृतियों के उदय रस को भोगते हुए सुखी-दुखी होते हैं। इसमें १७ प्रकृतियों की उदयव्युच्छित्ति होती है।

हे पुण्यात्मन् ! यदि तुम्हें कभी देशसंयत नामक पाँचवाँ गुणस्थान प्राप्त हो गया जिसका काल कुछ कम एक पूर्व कोटि वर्ष प्रमाण ही है तो तुमने यहाँ ६७ प्रकृतियों का बन्ध और चार प्रकृतियों की बंध से व्युच्छित्ति की तथा ८७ प्रकृतियों का परिपाक भोगा। इस गुणस्थान में आठ प्रकृतियों की उदय-व्युच्छित्ति होती है।

हे वैराग्यवान् भव्यात्मन् ! केवल मनुष्य पर्याय में वह भी अत्यन्त दुर्लभ होने से छठे आदि गुणस्थानों को तुमने प्राप्त कर लिया तो देखो, छठे गुणस्थान में ६३ प्रकृतियों का बन्ध और ६ प्रकृतियों की बन्ध-व्युच्छित्ति की तथा वहाँ ८१ प्रकृतियों के उदयफल को भोगा तथा पाँच प्रकृतियों की उदय-व्युच्छित्ति की। इसी प्रकार सातवें अप्रमत्तविरत गुणस्थान में ५९ प्रकृतियों का बन्ध और एक देवायु प्रकृति की बन्ध से व्युच्छित्ति की। यहाँ तुमने उदय में आने वाली ७६ प्रकृतियों का उदय फल भोगा और चार प्रकृतियों की उदयव्युच्छित्ति की। इन छठे और सातवें गुणस्थानों का अपना-अपना काल एक-एक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होते हुए भी छठे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान का काल आधा है।

अनन्तानन्त जीवराशि में असंख्याते जीव इस गुणस्थान तक की यात्रा कई बार (३२ बार के भीतर) कर चुके होंगे। इतना ही नहीं उपशम श्रेणी मांडकर कुछ जीव ११वें गुणस्थान तक का विहार भी कर चुके होंगे।

विदेहादि प्रत्येक क्षेत्र एवं प्रत्येक काल में विहार करके, आहार-दानादि का शुभावसर देकर एवं धर्मोपदेश देकर श्रावकों एवं साधुओं का उपकार इन छठे-सातवें गुणस्थानों में विचरण करने वाले मुनिराज ही करते

हैं। झूले की मिचकनी सदृश छठे-सातवें गुणस्थानों में सहस्रों बार परिवर्तन करते हुए यहाँ कुछ कम पूर्व कोटि काल पर्यन्त रह सकते हैं।

हे भव्यात्मन् ! तुमने अद्यावधि इन गुणस्थानों से ऊपर के गुणस्थानों का स्पर्श नहीं किया, यह बड़े खेद की बात है। इसका प्रमाण यह है कि तुम्हारा अस्तित्व अभी इस संसार में है। हे भव्य ! अब तुम ऐसा पुरुषार्थ करो कि निकट भविष्य में ही इन गुणस्थानों की सैर करते हुए अतिशीघ्र मोक्ष पद प्राप्त करो। वहीं सच्चा सुख प्राप्त होगा और वहाँ से लौट कर फिर इस संसार में आना नहीं पड़ेगा।

हे भव्यात्मन् ! अब तुम जब भी आठवें आदि गुणस्थानों में पदार्पण करोगे तब आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान में तुम ५८ प्रकृतियों का बन्ध और ३६ प्रकृतियों की बन्ध से व्युच्छित्ति करोगे तथा ७० प्रकृतियों के उदयफल को अबुद्धिपूर्वक भोगोगे और वहाँ ६ प्रकृतियों की उदय से व्युच्छित्ति कर दोगे। नौवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में तुम २२ प्रकृतियों का बंध करोगे और ५ प्रकृतियों की बन्ध-व्युच्छित्ति करोगे। इस गुणस्थान में तब तुम ६६ प्रकृतियों का उदयफल भोगोगे और ६ प्रकृतियों की उदय-व्युच्छित्ति करोगे। दसवें सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में १७ प्रकृतियों का बन्ध और १६ प्रकृतियों की बन्ध-व्युच्छित्ति करोगे। यहाँ उदय ६० प्रकृतियों का होगा और उदय-व्युच्छित्ति मात्र एक सूक्ष्म लोभ की होगी।

यहाँ से आगे ११ वें उपशान्तमोह गुणस्थान में मात्र एक सातावेदनीय का बन्ध होगा और यहाँ बन्ध-व्युच्छित्ति नहीं है। इस गुणस्थान में उदय ५९ प्रकृतियों का और उदय-व्युच्छित्ति दो प्रकृतियों की है।

१२वें क्षीणकषाय गुणस्थान में भी बन्ध मात्र साता वेदनीय का है, बन्ध-व्युच्छित्ति नहीं है। उदय ५७ प्रकृतियों का और उदय-व्युच्छित्ति १६ प्रकृतियों की होगी।

१३वें सयोगकेवली गुणस्थान में उसी एक का बन्ध और सातावेदनीय की ही बन्ध-व्युच्छित्ति होगी। यहाँ उदय ४२ प्रकृतियों का और उदय-व्युच्छित्ति २९ प्रकृतियों की होगी। १४वें अयोग केवली गुणस्थान में बन्धादि नहीं है। वहाँ १३ प्रकृतियों का उदय होगा और उन्हीं १३ की व्युच्छित्ति

होकर तत्काल शैलेशी भाव को प्राप्त हो जाओगे।

हे भव्य ! चिन्तन करो कि इन कर्मों के वशीभूत हो तुम इस संसार में भटक रहे हो। इनसे छूटने का एकमात्र उपाय रत्नत्रय, ध्यानादि तप और समाधि है।

तुम जैसे दुखी किसी भव्य ने गुरु से कहा कि - हे गुरुदेव ! मेरे दुःखों का नाश कैसे हो ?

गुरु - **'कम्मखओ'** अर्थात् हे भव्य ! कर्मों का नाश करने से तुम्हारे दुःखों का नाश हो जायेगा।

भव्य - हे प्रभो ! कर्मों का नाश कैसे करूँ ?

गुरु - **'बोहिलाहो'** रत्नत्रय की प्राप्ति कर लो, उससे कर्मों का नाश हो जायेगा।

भव्य - हे देव ! रत्नत्रय की प्राप्ति कहाँ और कैसे होगी ?

गुरु - **'सुगइगमणं'** मनुष्य पर्याय ही सर्वोत्तम पर्याय है। इसमें भी उत्तम कुल, उत्तम जैन धर्म, उत्तम संहनन, नीरोग शरीर, सज्जनों की संगति और हितकारी बुद्धि की प्राप्ति होना - उत्तरोत्तर दुर्लभ है। इतने संयोग मिल जाने पर भी रत्नत्रय की प्राप्ति होना और भी दुर्लभ है। तुम इसी पर्याय में रत्नत्रय प्राप्त कर सकते हो।

भव्य - स्वामिन् ! उपर्युक्त सर्व उत्तम साधनों के साथ उत्तम गति की प्राप्ति का क्या उपाय है?

गुरू - **'समाहिमरणं'** समाधि पूर्वक मरण करने से उत्तम गति की प्राप्ति हो जाती है, अतः समाधिमरण में पुरुषार्थ करो।

भव्य-प्रभो ! समाधिपूर्वक मरण करने का सबल सम्बल क्या है?

गुरू - **'जिणगुणसम्पत्ति'** भगवान जिनेन्द्र की गुणरूपी सम्पत्ति ग्रहण कर लेना ही समाधिमरण का सर्वोपरि सम्बल है। इन्हीं सर्व उपायों से हमारे दुःखों का निवारण हो सकता है।

❑ ❑ ❑

चतुर्गति के दुःखों की अनुभूति

हे भव्यात्मन् ! इस संसार रूपी महाविश्व का पर्यटन करने हेतु तुम्हारे लिए चार मार्ग प्रधान रूप से निर्मित हैं।

इस मध्यलोक की त्रसनाली में एक राजू चौड़ा और छह राजू लम्बा एक मार्ग नीचे की ओर जा रहा है। जिसका उपरिम थोड़ा सा भाग भवनवासी और व्यन्तर देवों के लिए है, शेष में सात नरक हैं। इसी त्रस नाली में एक मार्ग सात राजू ऊपर वहाँ के वातवलय पर्यन्त जा रहा है, जिसमें सोलह स्वर्ग, नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश, पाँच अनुत्तर और सिद्धलोक हैं। एक मार्ग सुमेरुपर्वत के चारों ओर वृत्ताकार, पैंतालीस लाख योजन अर्थात् अढ़ाईद्वीप पर्यन्त है। इसे मनुष्यलोक कहते हैं।

हे भव्य ! यदि तुम चतुर्थ मार्ग से इस संसार में पर्यटन करना चाहते हो तो तुम्हें सूक्ष्म एकेन्द्रिय की पर्याय धारण करनी होगी क्योंकि इन जीवों के लिए ३४३ घन राजू के सर्वक्षेत्र को व्याप्त कर यह मार्ग फैला हुआ है। यदि तुम तिर्यंच गति में त्रसादि पर्यायों में जन्म लेकर पर्यटन करना चाहते हो तो तुम्हारा यह मार्ग मध्य लोक में एक लाख ऊँचे, पूर्व-पश्चिम दिशागत वातवलय पर्यन्त एक राजू लम्बे, एक राजू चौड़े और उत्तर-दक्षिण दिशागत वातवलय पर्यन्त सात राजू विस्तृत क्षेत्र में फैला हुआ है और इस का नाम तिर्यग्लोक है। इन मार्गों में से जो एक मार्ग सुमेरु की जड़ से प्रारम्भ होकर नीचे छह राजू लम्बा जा रहा है उसमें सात नरक-भूमियाँ हैं। अनन्त बार पंच परावर्तन करते हुए हे भव्यात्मन्! तुम अनेक बार वहाँ जाकर आये हो किन्तु आज तुम्हें वहाँ का कुछ भी स्मरण नहीं है और शास्त्रों में वहाँ का वर्णन पढ़ते या सुनते समय कभी तुमने यह अनुभव नहीं किया कि वहाँ के भयंकर दुःख मैंने भी अनेक बार भोगे हैं; कोई अन्य नारकी ऐसा दुख भोग रहे हैं। यह धारणा तुम्हें पापों से भयभीत नहीं होने देती है।

हे भव्य ! वहाँ के निवासस्थानों और दुःखों पर तुम ध्यान दो और ऐसी दुर्गतियों में जाने से अपनी रक्षा करो। देखो ! वृक्ष में स्थित सार के सदृश लोक के बहुमध्यभाग में एक राजू लम्बी-चौड़ी और कुछ

कम तेरह राजू ऊँची त्रसनाली है तथा इस लोक में आठ पृथिवियाँ हैं। जिनके नीचे बीस-बीस हजार योजन बाहुल्य वाले तीन-तीन वातवलय होते हैं उन्हें पृथिवी कहते हैं। रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा और महातमप्रभा नाम की सात भूमियाँ, पृथिवियाँ नीचे हैं और ईषत् प्राग्भार नामक आठवीं पृथिवी ऊपर है, जो पूर्व-पश्चिम एक राजू विस्तृत, दक्षिणोत्तर सात राजू लम्बी और आठ योजन मोटी है।

नीचे की सातों पृथिवियाँ ऊर्ध्वदिशा को छोड़कर शेष नौ दिशाओं के भाग से और आठवीं पृथिवी दसों दिशाओं के सभी भागों से घनोदधि वातवलय का स्पर्श कर रही है। सुमेरु से नीचे प्रथम राजू में दो नरक हैं अत: छह राजू में सात नरक हैं। प्रत्येक नरक में इन्द्रक, श्रेणीबद्ध एवं प्रकीर्णक के भेद से तीन प्रकार के बिल हैं। यथा -

संख्याक्रम	-	इन्द्रक	+	श्रेणीबद्ध	+	प्रकीर्णक	=	सर्वबिल
प्रथम पृ. में	-	१३	+	४४२०	+	२९९५५६७	=	३००००००
द्वितीय पृ. में	-	११	+	२६८४	+	२४९७३०५	=	२५०००००
तृतीय पृ. में	-	९	+	१४७६	+	१४९८५१५	=	१५०००००
चतुर्थ पृ. में	-	७	+	७००	+	९९९२९३	=	१००००००
पंचम पृ. में	-	५	+	२६०	+	२९९७३५	=	३०००००
षष्ठ पृ. में	-	३	+	६०	+	९९९३२	=	९९९९५
सप्तम पृ. में	-	१	+	४	+	०	=	५

हे भव्य ! १ली, २री, ३री, ४थी में और ५वीं पृथ्वी के तीन-चौथाई भाग में अर्थात् ८२२५००० बिलों में तुमने जब-जब जन्म लिया, तब-तब तुम्हें भयंकर उष्ण वेदना सहन करनी पड़ी और जब-जब तुमने पाँचवीं पृथ्वी के शेष ७५००० और ६ठी, ७वीं पृ. के १७५००० बिलों में जन्म लिया है तब-तब असह्य शीत वेदना सहन की है। तुम स्मरण करो कि तुम्हारी इन्द्रक बिलों की जन्मभूमियाँ तीन कोण और तीन द्वार

वाली थीं, शेष एक, दो, तीन, पाँच एवं सात कोण और इतने ही द्वा वाली थीं। ये सभी जन्मभूमियाँ नित्य ही कस्तूरी से भी अनन्तगुणी काल अन्धकार से व्याप्त रहती हैं। मध्यलोक के सब मनुष्यों, पशुओं औ पक्षियों के मृत शरीरों की दुर्गन्ध से अनन्तगुणी दुर्गन्ध से व्याप्त इन नरक बिलों में तुम सागरों पर्यन्त रहे हो। ये सब बिल उपरिम छत पर नीचे मुख वाले बने हुए हैं, इनके मुख सदैव खुले रहते हैं, इनमें जन्म लेते ही तुम स्वभावतः नीचे गिरे। नीचे बरछी, तलवार, चाकू आदि सीधे मुख खड़े हुए थे, उन पर गिरते ही तुम प्रथम पृथिवी से सातवीं पृथ्वी पर्यन्त क्रमशः सवा तीन कोस, १५ योजन ढाई कोस, ३१ यो. एक कोस, साढ़े बासठ योजन, १२५ योजन, २५० योजन और ५०० योजन ऊँचे उछल-उछल कर पुनः-पुनः उसी पर गिरे। इसी बीच पुराने नारकी तुम्हें देखकर ऐसे झपटे जैसे यहाँ व्याघ्र, मृगशावक पर झपटता है।

हे भव्य ! वे नारकी हिंसक पशु बनकर तुम्हें चोंथ-चोंथ कर खाने लगे, कोई नारकी भयंकर रूप वाले पक्षी बन कर तुम्हारी अंतड़ियाँ एवं आँखें आदि उपाड़कर ले जाने लगे, कोई कुल्हाड़ी बनकर काटने लगे, कोई अंगारे बनकर जलाने लगे, कोई धधकती हुई लोहमयी पुतली बनकर तुम्हारा आलिंगन करने लगे और कोई सिंह आदि बनकर तुम्हें चबाने लगे इत्यादि....... सागरों पर्यन्त अनेक प्रकार की अशुभ विक्रियाओं द्वारा जो दुःख तुम्हारी आत्मा ने सहन किये हैं उन्हें कहने में या लिखने में कोई समर्थ नहीं है।

नोट : जिन्हें नरक के दुखों की विशेष जानकारी प्राप्त कर अपनी आत्मरक्षा करना इष्ट है वे **तिलोयपण्णत्ती प्रथम खण्ड, दूसरे अधिकार की गाथा ३१४ से ३५७ तक अवश्य देखें।**

हे आत्मन् ! मनुष्य या तिर्यंच पर्याय में जब-जब तुमने शिला की रेखा सदृश क्रोध या शैल सदृश मान या बाँस की जड़ सदृश माया या किरमिच सदृश लोभ कषाय के समय आयुबन्ध किया तब-तब नरकायु का ही बन्धकर सागरों पर्यन्त दुख भोगे हैं। आश्चर्य है कि तुम्हें अद्यावधि इन दुखों से भयभीतता उत्पन्न नहीं हुई है।

हे भव्य ! आचार्यों ने कषाय से अनुरंजित / प्रभावित योगों की / मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को लेश्या कहा है। कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल के भेद से ये छह प्रकार की हैं। इनमें प्रारम्भ की तीन अशुभ और पश्चात् की तीन शुभ होती हैं। मनुष्यादि पर्याय में तुम जब कृष्ण-लेश्याजन्य अर्थात् गोत्रीयजनों के या पुत्र-स्त्री-बहिन या बेटी आदि को मार डालने वाले परिणामों से युक्त रहे या शत्रुता का त्याग न कर सके, या सदैव प्रचण्ड कलह करते रहे या भयंकर क्रोध के वशीभूत तथा दयाधर्म की परिणति से रहित हो अति आरम्भ और परिग्रह में फँसे रहे तब तुम धूमप्रभा या तमप्रभा या महातमप्रभा अर्थात् ५वें से ७वें नरक पर्यन्त का आयु-बन्ध कर कई सागर पर्यन्त नरक के दुखों को भोगते रहे हो।

हे भव्य ! जब कभी तुमने नील लेश्या के परिणामों के साथ आयुबन्ध किया अर्थात् विषयों की आसक्तता, प्रचुर माया-प्रपंच में संलग्नता, कुबुद्धि, आलस्य, हीनबुद्धि, मूर्खता, कायरता, विवेकहीनता, निद्राशीलता, स्त्रीलम्पटता, लोभान्धता, दूसरों को ठगने में तत्परता, धन-धान्यजनित सुखों की इच्छा एवं आहार,भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञाओं में आसक्तता धारण कर जब-जब आयुबन्ध किया तब यहाँ से मरकर बालुकाप्रभा से धूमप्रभा अर्थात् ३रे नरक से ५वें नरक पर्यन्त उत्पन्न होकर वहाँ के दुख भोगते रहे हो।

हे भव्य ! यदि तुमने कापोतलेश्या अर्थात् स्वप्रशंसा और मिथ्या दोषों के द्वारा दूसरों की निन्दा करते हुए, भयभीत होते हुए, शोक से खेद-खिन्न होते हुए, दूसरों का अपमान करते हुए, ईर्ष्या से ग्रस्त होते हुए, कार्य-अकार्य का विवेक न रखते हुए, अति चंचल चित्त या हर्षातिरेक का अनुभव करते हुए, अपने सदृश दूसरों को समझ उन पर विश्वास न करते हुए, स्तुति करने वालों को धनादि देकर खुश रखने की इच्छा रखते हुए, अपनी स्त्री में भी अति आसक्ति रखते हुए एवं युद्धादि में मरण की इच्छा रखते हुए जब-जब आयुबन्ध किया तब-तब प्रथम नरक से तीसरे नरक तक उसी कापोत लेश्या के साथ उत्पन्न होकर सागरों पर्यन्त दुख भोगते रहे हो।

तुम कभी सम्यक्त्व को, कभी देशसंयम को और कभी सकलसंयम को छोड़कर विषय-सुखों में फँसे रहे जिससे अनेक बार नरक गये हो। तुम मद्य, मांस और मधु का सेवन करने से, शिकार खेलने से, लोभ, क्रोध, भय अथवा मोह के कारण असत्य बोलने से, सेंध लगाकर, प्रियजनों को मारकर और पट्टादि को धोखे से ग्रहण कर, धन लूटने से तथा और भी अनेक प्रकार के पाप / अन्याय आदि करने से बार-बार नरक गये हो और वहाँ सागरों पर्यन्त भयंकर दुख भोगते रहे हो।

सुमेरु से नीचे रत्नप्रभा पृथिवी खरभाग, पंकभाग और अब्बहुल भाग के भेद से तीन प्रकार है। असुरकुमार जाति के भवनवासी और राक्षस जाति के व्यन्तर देव पंकभाग में, शेष सभी भवनवासी और व्यन्तर खर भाग में रहते हैं। व्यन्तर देव द्वीप-समुद्रों के ऊपर, पर्वत, कुए, बावड़ी, तालाब, मन्दिरादि में भी रहते हैं। ज्योतिषी देव मध्यलोक में रहते हैं। इन तीनों को देवदुर्गति कहते हैं।

हे भव्य ! कभी तुमने अकामनिर्जरा की, कभी अज्ञानतप द्वारा शरीर को नाना प्रकार का कष्ट दिया तथा कभी सम्यक् चारित्र को धारण कर विशुद्ध लेश्या द्वारा उत्तम देवायु का बन्ध कर पश्चात् दृष्ट विषयों में आसक्त हो जलते रहे अथवा क्रोधादि कषायों के वशीभूत हो - उपरिम आयु का घात करते हुए देवदुर्गतियों में उत्पन्न हो नाना प्रकार के मानसिक दुख भोगते रहे।

निम्न श्रेणी का हास्य, राग की उत्कटता पूर्वक हास्य-मिश्रित वचन, शरीर की कुचेष्टा सहित मजाक, मन्त्रादि द्वारा लोगों को विस्मित करने की चतुराई एवं इस प्रकार की अन्य भी कुचेष्टाएँ करने वाले तुम चंचल चित्त युक्त साधु होकर भी कन्दर्प जाति के देवों में उत्पन्न हो कष्ट भोगते रहे।

जिनशासन की, जिनागम की, धर्म की, संघ की, आचार्य की एवं तपस्वियों की निन्दा करके और आचार्य आदि के साथ मायाचारी करके तुम साधु होकर भी किल्विष जाति के देवों में उत्पन्न हो नाना प्रकार के असह्य दुख भोगते रहे।

हे दुरात्मन् ! साधुवेष धारण कर ख्याति, पूजा एवं इष्ट आहारादि की वांछा से अपनी मन्त्रशक्ति द्वारा कुमारी कन्याओं में भूत का आवेश उत्पन्न कराया, अथवा अकाल में जलवृष्टि करा कर कौतुक दिखाया, अथवा बालकों को क्रीड़ा कराने वाला भूतिकार्य किया या औषधियों के प्रयोग द्वारा चमत्कार दिखाया, इन आभियोग्य नामक नीच भावनाओं के कारण तुम आभियोग्य जाति के देवों में उत्पन्न हुए। अन्य ऋद्धिधारी इन्द्रादि देव तुम्हें हाथी, घोड़ा, ऊँटादि बनाकर जब सवारी करते थे तब तुमने वहाँ नारकी जीवों की शारीरिक वेदना से भी कई गुनी अधिक मानसिक वेदना सहन की है।

हे मूर्खानन्द ! मुनि होकर भी तुमने कठोर परिणामों से या आक्रोश एवं कलह में प्रवृत्त हो या क्रोधायमान हो या ज्योतिष तथा सामुद्रिक विद्या आदि का प्रयोग कर आहारादि की प्राप्ति हेतु आसुरी भावनाएँ कीं जिनके फलस्वरूप असुरकुमार जाति के देवों में उत्पन्न हो नाना प्रकार के मानसिक दुख भोगे।

हे अज्ञानी ! मुनि होकर भी तुमने सम्मोही भावना के कारण देवदुर्गति प्राप्त की। अर्थात् खोटे मार्ग का उपदेश देकर, रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग में दोष लगाकर, मोक्षमार्ग को नष्ट कर तथा अज्ञान के प्रचार-प्रसार द्वारा जीवों को मोहित कर सम्मोही भावना के वशीभूत हो देवदुर्गति प्राप्त की और मानसिक क्लेश भोगे।

वैमानिक देवों में सोलहवें स्वर्ग पर्यन्त तुमने आभियोग्य एवं किल्विष जाति के देवों में उत्पन्न हो जो मानसिक वेदना सहन की है वह वचनागोचर है। अर्थात् देव होकर भी चाण्डालादि के सदृश तुम्हें कभी इन्द्र की सभा में प्रवेश नहीं मिला। हे अंधो ! दूर हटो ! मार्ग साफ करो ! देखो इन्द्र की शची आ रही है, इत्यादि आदेशात्मक कटु भाषा आदि से वहाँ भी तुमने असह्य वेदना सहन की है। अर्थात् देवगति में जाकर भी तुम्हें दुख ही भोगने पड़े हैं।

हे भव्य प्राणी ! तुम्हारा मनुष्य लोक सम्बन्धी तृतीय मार्ग दो समुद्रों और अढ़ाई द्वीपों के भीतर मानुषोत्तर पर्वत पर्यन्त मनुष्यक्षेत्र में फैला

हुआ है। पर्याप्त, निवृत्यपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त के भेद से मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं। एक सौ सत्तर आर्यखण्डों में ये तीनों प्रकार के मनुष्य होते हैं अतः तुम भी अनेक बार लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यों में जन्म लेकर अन्तर्मुहूर्त में ८ बार जन्म-मरण के दुख उठा चुके हो। म्लेच्छादि खण्डों में लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य उत्पन्न नहीं होते अतः वहाँ तुम इन दुःखों से बचे रहे हो किन्तु धर्म-कर्म से रहित म्लेच्छ खण्डों में मनुष्य होकर धर्म बिना व्यर्थ ही तुमने जीवन व्यतीत किया है।

हे भव्य ! किसी मनुष्य या तिर्यंच पर्याय में जब तुम धूलिरेखा सदृश क्रोध या काष्ठ सदृश मान या गोमूत्र सदृश माया या शरीर के मल सदृश लोभ कषायों से युक्त तथा छह लेश्याओं के मध्यम अंशों से युक्त हुए तब तुमने मनुष्यायु का बंध कर लिया अथवा नारकी या देव पर्याय से मनुष्यों में उत्पन्न हो गये। यहाँ भी यदि गर्भज हुए तो गर्भावस्था में असह्य दुख सहे और यदि तुम्हारा सम्मूर्च्छन जन्म हुआ तो एक अन्तर्मुहूर्त में ८ बार जन्म-मरण के दुख उठाये।

भोगभूमियों में उत्पत्ति योग्य परिणाम

हे मानव ! मनुष्य पर्याय में मिथ्यात्व संयुक्त होते हुए तुम यदि मन्दकषायी, निरभिमानी, सत्यवादी, मद्य, मांस, मधु और उदुम्बर फलों के त्यागी, चोरी तथा परस्त्री के त्यागी और गुणवानों के गुणों में अनुरक्त हुए, भक्ति के आधीन हो जिनपूजन में अनुरक्त रहे, आर्जवादि गुणों से युक्त हुए, उपवास द्वारा शरीर को कृश करने वाले और विविध योगों से युक्त अत्यन्त निर्मल संयमधारी और परिग्रह रहित मुनियों को आहारदान देने में तत्पर रहे, और पात्र विशेषों को आहार दान, अभय दान, विविध औषधियाँ एवं ज्ञानोपकरण स्वरूप शास्त्रादि का दान देकर भोगभूमियों में उत्पन्न हो वहाँ के सुख भोगते रहे। तिर्यंच पर्याय में भी तुमने तज्जन्य योग्यतानुसार जब पात्र विशेषों को दान दिया अथवा दान की अनुमोदना की तब भोगभूमि में उत्पन्न हुए।

कुभोगभूमियों में उत्पत्ति योग्य परिणाम

हे भव्य ! मिथ्यात्वरूपी मल से आच्छन्न, मन्द कषायी, प्रिय वक्ता किन्तु कुटिल परिणामी, धर्मफल की वांछा करने वाले, मिथ्या देवों एवं गुरुओं की भक्ति में तत्पर, शुद्ध ओदन, जल और ओदम अथवा काँजी आहार मात्र खाने के कारण संक्लेश को प्राप्त, या विषम पंचाग्नि तप तथा अन्य भी कायक्लेश तप तपने वाले अज्ञानी, तुमने मनुष्यायु का बन्ध कर भी लवण एवं कालोदक समुद्रगत अन्तर्द्वीपों में कुमानुष हो दुख पाये। तुम कभी तीव्र अभिमान में आकर सम्यक्त्व और तप से युक्त साधुओं का किंचित् सा भी अपमान कर या निन्दा कर कुमानुष हुए हो। कभी तुमने स्वयं मुनिव्रत धारण कर भी संयम तप से रहित, मायाचार से युक्त, तीन गारव से युक्त होते हुए मोह को प्राप्त होकर गुरुजनों के समीप आलोचना नहीं की, गुरु के समीप स्वाध्याय, सामायिक एवं वन्दनादि नहीं की, संघ छोड़ एकाकी विहार किया तथा क्रोध के वशीभूत हो संघ से कलह करने के कारण, जिनलिंग धारण कर भी अनर्गल पाप करने वाले, वात्सल्य गुण से रहित, परिग्रह-संग्रह कर भी हर्षित होने वाले, निर्ग्रन्थ मुद्रा में भी कन्याओं के विवाहादि कराने वाले, मौन बिना आहार लेने वाले, घोर पाप करने वाले तथा सम्यक्त्व से च्युत होने वाले तुमने मनुष्य आयु का बन्ध कर भी कुत्सित रूप से युक्त कुमानुष पर्याय प्राप्त की।

हे दुरात्मन् ! जिनलिंग धारण कर भी मायाचार करने वाले, ज्योतिष एवं मन्त्रादि विद्याओं द्वारा आजीविका उत्पन्न करने वाले, धन के इच्छुक, संज्ञाओं से युक्त, दुर्भावना, अपवित्रता, सूतक युक्त, रजस्वला स्पर्शित और जातिसंकर - वर्णसंकर दोषयुक्तों से आहार ग्रहण करने वाले एवं कुपात्रों को दान देने वाले तुम मनुष्यायु का बन्ध कर कुमानुषों में उत्पन्न हुए।

इस प्रकार हे आत्मन् ! इस मनुष्य पर्याय में जन्म लेकर भी तुमने भयंकर नाना प्रकार के कष्ट भोगे हैं जिन्हें कहने या लिखने में बृहस्पति भी समर्थ नहीं है।

तुम्हारे परिभ्रमण का चतुर्थ मार्ग तिर्यंचगति सम्बन्धी है जो ३४३ घन राजू में फैला हुआ है। इस तिर्यंच गति में तुम चारों गतियों से आकर अनेक बार उत्पन्न हुए हो।

हे भव्य ! नारकी एवं देव पर्याय में छहों लेश्याओं के मध्यम अंशों में वर्तन करते हुए परिणामों की तारतम्यता से तुमने वहाँ तिर्यंचायु का बन्ध किया और यहाँ आकर अनेक कष्ट भोगे। बारह स्वर्गों में देव होकर भी तुम इस तिर्यंच गति में जन्म लेते रहे हो। दूसरे स्वर्ग तक के देव होकर भी तुम वहाँ से च्युत हो सीधे एकेन्द्रिय पर्याय में आये हो।

हे भव्य ! मनुष्य - तिर्यंच पर्याय में आयुबन्ध के समय जब तुम्हारे परिणाम पृथिवी रेखा सदृश क्रोध में या हड्डी सदृश मान में या मेंढे के सींग सदृश माया में या ओंगन के समान लोभ में तल्लीन रहे और उसी समय यदि छह लेश्याओं में से किसी भी एक लेश्या के मध्यम अंशों का योग मिल गया तब भी तुम तिर्यंचगति में आकर जन्मे और दुख के भाजन बने। तिर्यंचों की उत्पत्ति गर्भ और सम्मूर्च्छन जन्म से होती है। तिर्यंच जीव एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय पर्यन्त होते हैं। इनमें से एकेन्द्रिय २४, द्वीन्द्रिय २, त्रीन्द्रिय २, चतुरिन्द्रिय २ और पंचेन्द्रिय ४ इस प्रकार ये सब मिलकर तिर्यंचों के ३४ भेद होते हैं। यथा- पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक। इनमें से प्रत्येक के बादर और सूक्ष्म के भेद से ८ भेद होते हैं और इनके भी पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से १६ भेद होते हैं। वनस्पतिकायिक के साधारण और प्रत्येक के भेद से दो, इनके सूक्ष्म और बादर के भेद से चार एवं इनके पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से ८ भेद होते हैं। इस प्रकार स्थावर जीवों के (१६+८=) २४ भेद, पर्याप्त, अपर्याप्त के भेद से द्वीन्द्रिय के दो, त्रीन्द्रिय के दो और चतुरिन्द्रिय के दो अर्थात् विकलत्रय के छह भेद तथा पंचेन्द्रिय के संज्ञी, असंज्ञी दो तथा इनके पर्याप्त-अपर्याप्त ऐसे चार भेद होते हैं। अर्थात् त्रस जीवों के (६+४=)१० भेद हैं। इन्हें स्थावर जीवों के २४ भेदों में मिला देने पर तिर्यंच जीवों के कुल ३४ भेद होते हैं।

हे भव्यप्राणी ! अनादि काल से तुमने जितने परिवर्तन पूरे किये हैं उनका अधिकांश समय इसी तिर्यंच गति में व्यतीत हुआ है। यहाँ की प्रत्येक पर्याय में अनेक बार जन्म लेकर तुमने असह्य दुख भोगे हैं।

पाँचों स्थावर और विकलत्रय तिर्यंचों की आयु पूर्ण कर तुम कर्मभूमिज मनुष्य एवं तिर्यंच ही हुए हो, इसमें इतना विशेष है कि अग्निकायिक और वायुकायिक पर्याय से मरण कर मनुष्य गति प्राप्त नहीं कर सके। ३४ प्रकार के तिर्यंचों में से संज्ञी पर्याप्त और असंज्ञी पर्याप्त जीवों की पर्याय को छोड़कर शेष बत्तीस प्रकार की तिर्यंच पर्यायों से मरण कर तुम देव, नारकी और भोग-भूमिज मनुष्य कदापि नहीं हुए।

इन तिर्यंचों की जघन्य अवगाहना लेकर भी तुम अनेक बार उत्पन्न हुए हो और स्वयंप्रभ पर्वत के बाह्य भाग में कमल की पर्याय धारण कर एक हजार योजन ऊँची और एक योजन मोटी अर्थात् ७५०-३/१६ घन योजन उत्कृष्ट अवगाहना एकेन्द्रिय की प्राप्त कर चुके हो। कभी तुम उसी क्षेत्रमें शंख की १२ योजन लम्बी, ४ योजन मुख और ५ योजन बाहल्य अर्थात् ३६५ उत्सेध घन योजन वाली उत्कृष्ट अवगाहना द्वीन्द्रिय की प्राप्त कर चुके हो। कभी उसी क्षेत्र में चींटी की ३/४ योजन (६ मील) व्यास, और ३/३२ योजन (३/४ मील) लम्बाई और ३/६४ योजन (३/८ मील) ऊँचाई अर्थात् २७/८१९२ उत्सेध घन योजन उत्कृष्ट अवगाहना त्रीन्द्रिय की प्राप्त कर चुके हो। कभी उसी क्षेत्र में भ्रमर की एक योजन लम्बी, डेढ़ योजन चौड़ी और आधा योजन ऊँची अर्थात् ३/८ उत्सेध घन योजन प्रमाण की उत्कृष्ट अवगाहना चतुरिन्द्रिय जीव की धारण कर चुके हो। इतना ही नहीं, हे भव्य जीव ! पंच परावर्तन करते हुए तुम स्वयम्भूरमण समुद्र के मध्य सम्मूर्च्छन जन्म वाले महामत्स्य की १००० योजन लम्बाई, ५०० योजन चौड़ाई और २५० योजन ऊँचाई अर्थात् १२५०००००० उत्सेध घन योजन वाली पंचेन्द्रिय की उत्कृष्ट अवगाहना प्राप्त कर चुके हो। अर्थात् शरीर के बहाने हे अज्ञानी ! तू इतने भारी मांस पिण्ड को एक पूर्व कोटि काल तक ढो चुका है फिर भी तेरी तृप्ति इस शरीर से अभी तक नहीं हुई। अब भी तू उसी शरीर के राग में फँसा हुआ है।

हे भव्य ! अभी समय है। चेत ! और सँभल ! अर्थात् संयम धारण कर, चतुर्गति के दुखों से छूटने का पुरुषार्थ कर......।

❑ ❑ ❑

- हे आत्मन् ! आज तुमने अत्यधिक उत्तम और अपूर्व कार्य किया जो अपने ज्ञानोपयोग के स्वच्छ प्रकाश में अनादिकाल के संचित खाते-बही निकाल कर देखा कि अद्यावधि अनन्त जीवों का लेनदेन तो समाप्त हो चुका है किन्तु अभी अनन्त जीव ऐसे हैं जिनमें अनेक से लेना है और अनेक को देना भी है।

- हे आत्मन् ! परजीवों से यह लेनदेन कब तक चलाते रहोगे ? यदि ऐसा ही व्यापार करते रहे तो अनन्त काल पर्यन्त यह क्रम चलता रहेगा। अब इस व्यापार को बन्द करने का क्या उपाय है? यह विषय अत्यन्त चिन्तनीय है।

- हे आत्मन् ! 'पानी में मीन प्यासी' ? जिसके पास करोड़ों सूर्यों के प्रकाश से भी अधिक प्रकाशमान सम्यग्ज्ञान है वह आत्मा उपाय पूछ रहा है ? तुम अपनी समता-कलम खोजो। वह कलम और सूक्ष्म-बादर निगोदिया जीवों का खाता-बही उठाओ; चलो, ३४३ घन राजू में। हे ज्ञानोपयोग ! अपनी परोक्ष ज्ञान रूपी ऐनक से ही देखो कि किन-किन जीवों से लेना है और किन-किन को देना है।

- हे प्रभो ! हे नाथ ! सिद्ध प्रभु सा केवलज्ञान प्राप्त करने की शक्ति के धारी होते हुए भी यह अनन्तानन्त जीव राशि अपने अमूल्य ज्ञान गुण की क्षति की अन्तिम कगार पर खड़ी है ? इनके मूलधन (ज्ञान) का इतना अधिक ह्रास ? हाय ! विधि द्वारा प्रताड़ित इन अतिदीन और दुखी जीवों से मुझे क्या लेना और क्या देना ? आज मैं अपनी समता रूपी सुन्दर लेखनी से इन सब जीवों का अपनी ओर से जमा-खर्च करके इन खाते-बहियों को अपनी विवेक रूपी गंगा की धारा में बहाकर समाप्त करता हूँ.........।

✤ हे आत्मन् ! इसी उपयोग विशुद्धि के साथ नरकगत जीवों का खाता-बही लेकर अतिशीघ्र नरकों में चलो। यहाँ किन-किन जीवों से तुम्हारा लेनदेन बाकी है ?

✤ हे प्रभो ! हे स्वामिन् ! यहाँ मुझे कहाँ ले आये ? इस अपवित्र और घोर अन्धकार में कहाँ बैठकर और कैसे मैं खाते-बही खोलूँ? हाय-हाय ! जिनके लोथड़े लटक रहे हैं, आँतें निकल रही हैं, शरीर गल-गल कर गिर रहा है, रक्त की धाराएँ सदृश बह रही हैं, अथवा जो भूख-प्यास से तड़फ रहे हैं, करोत से काटे जा रहे हैं, वसूला से छीले जा रहे हैं, इतने भयंकर दुखों से दुखी इन जीवों से मुझे क्या लेना-देना है ? इसी समता रूपी कलम से मैं अपनी ओर से इन सबका जमा-खर्च करके इन सब लाये हुए खाते-बहियों का जल-विसर्जन कर निर्विकल्प होता हूँ--।

✤ हे आत्मन् ! नरक का दृश्य देख आये ? अब उठो ! त्रसनालीगत विकलत्रय जीवों के और संज्ञी-असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच जीवों के लेनदेन का खाता निकाल कर ले चलो तथा द्वीन्द्रिय, तेन्द्रिय आदि जीवों के पास क्रमशः जाकर लेनदेन पूरा करो।

✤ हे प्रभो ! हे स्वामिन् ! मैं इन सब जीवों के पास जा आया। ये सभी जीव घोर अज्ञान अन्धकार में पड़े हैं और अनिर्वचनीय दुख भोग रहे हैं। उनके कष्ट देखकर मेरा हृदय कम्पायमान हो गया। मैं उन दीन-हीन जीवों से लेनदेन की क्या बात करूँ। मैंने तो अपनी उस समता रूपी कलम से सबका जमा-खर्च कर वह खाता निरस्त कर दिया है।

✤ हे आत्मन् ! देवों के पास जाने से भी कोई प्रयोजन सिद्ध होने वाला नहीं है अतः अब तो जिनसे अधिक सम्पर्क बन रहा है उन मनुष्यों का खाता लेकर अढाई द्वीप में चलो और सबका लेन-देन पूरा करो।

✤ हे स्वामिन् ! मैं यह खाता लेकर भी सर्वत्र जा जाया हूँ। सर्व संघों में और अपने संघ में भी सर्व आचार्यों से, गुरुजनों से

एवं आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका एवं ब्रह्मचारी ब्रह्मचारिणियों से मिलकर क्षमायाचना कर ली है और अपनी ओर से सबको क्षमा कर दिया है। प्राय: सम्पर्क में आने वाले श्रावक - श्राविकाओं से भी क्षमायाचना कर ली है। अन्य सभी मनुष्यों, स्त्रियों, बालकों एवं बालिकाओं के लेन-देन का जमा खर्च कर यह खाता भी निरस्त कर दिया है।

इस प्रकार अपनी शुक्ललेश्या और समता रूपी लेखनी के माध्यम से तीन लोक के सभी अनन्तानन्त प्राणियों के प्रति और शेष पुद्गल आदि सभी द्रव्यों, उनके गुणों एवं पर्यायों के प्रति इष्टानिष्ट कल्पना का परित्याग कर अर्थात् चेतन-अचेतन सभी के प्रति राग-द्वेष का परित्याग कर अपना हृदय पटल कोरे कागज के सदृश बिलकुल साफ / स्वच्छ / श्वभ्र कर लिया है।

✤ हे आत्मन् ! आपने अपने हृदय पटल को यद्यपि कल एकदम स्वच्छ कर लिया था फिर भी उस पर एक बार पुन: दृष्टिपात कर लो, इस समय ध्यान में अनायास दुग्धफेन सदृश श्वेतवर्णी सीमन्धर स्वामी की भव्यमूर्ति सामने विराजमान हो गई, उसी क्षण मेरी आत्मा भी बिलकुल उन्हीं के सदृश स्वच्छ और श्वेत दिखाई दी तब पूरा ज्ञानोपयोग 'सोऽहं' पद के माध्यम से दोनों में रमण कर आनन्दित होता रहा। धन्य हैं वे क्षण जहाँ ज्ञेय श्वभ्र, ज्ञायक आत्मा श्वभ्र और शुक्ललेश्या सदृश परिणाम भी एकदम श्वभ्र........।

✤ हे आत्मन् ! ऐसा आनन्द वचनागोचर होता है, यह आनन्द मात्र अनुभूति में आता है, जिसका तुम आज रसास्वादन कर चुके हो। समाधि पर्यन्त अब ऐसा ही सत्पुरुषार्थ करो कि हृदय की यह श्वभ्रता सतत बनी रहे तथा शुक्ललेश्या के माध्यम से ऐसी ही आत्मानुभूति के साथ यह शरीर छूटे........।

✤ हे ज्ञानोपयोग ! खाता-बही लेकर तीन लोक में भ्रमण करते हुए तुमने क्या-क्या अनुभव किया और उससे क्या शिक्षा ग्रहण की ?

- हे स्वामिन् ! संसार के सभी प्राणियों को दुख रूपी गर्त में तड़फते हुए देख कर मेरा सर्वांग संवेग (भय) से कम्पायमान हो उठा। उनके सड़े, गले और वीभत्स शरीरों को देखकर मन उद्वेग से भर उठा तथा उन्हें विषय-कषायों में तल्लीन देख मन आश्चर्य से भर उठा कि इतने कष्ट भोगते हुए भी ये मदोन्मत्त होकर उसी में मस्त हैं ?

  संसार, शरीर और भोगों की यह स्थिति देख मेरा यह भयभीत आत्मा ज्ञान और वैराग्य की शक्ति को जाग्रत करने के लिए अत्यधिक उत्सुक हो उठा है........।

❑ ❑ ❑

नैतिकता ही जीवन है और विवेकी ही जीवित है

इस भौतिक युग में मानव की स्थिति मिट्टी की उस मूर्ति के सदृश हो रही है जो वस्त्रालंकारों से सुसज्जित होते हुए भी निर्जीव है। विलासिता और साधन-सामग्री की प्रचुरता में जीने वाला मनुष्य बाहर से एकदम साफ-सुथरा और सुसज्जित रहता है किन्तु धर्म के प्रति अनास्था और चारित्रिक मलिनता के कारण वह निष्प्राण सदृश है। उसका चलना-फिरना तथा अहर्निश दौड़-धूप करना एक मशीन के सदृश हैं। मशीन तो फिर भी दो-चार घण्टों को शान्ति प्राप्त कर लेती है किन्तु इस मानव को ऐसा कोई भी स्थान प्राप्त नहीं होता जहाँ वह शान्ति की श्वास ले सके।

ऋषि-मुनियों की चरण-रज से पवित्र कृषिप्रधान यह भारत एक आदर्श देश था। इसकी संस्कृति, सभ्यता और धर्मसहिष्णुता अनुकरणीय थी किन्तु विदेश से आये हुए स्वार्थपरता, अहंकारिता, विलासिता और भौतिकवाद के चार प्रबल झोंको ने नैतिकता की सीमा को भंगकर मनुष्य की मानसिकता को अत्यन्त मलिन कर दिया है। उस मलिन भूमि में क्रोध, मान, मोह, लोभ, मात्सर्य और काम ये छह खल उत्पन्न हो गये हैं। इन्होंने मनुष्य के सदाचार और सदाशयता की शक्ति को नष्ट कर दिया है।

सदाचरण, सात्त्विकता और मानसिक पवित्रता ही व्यक्ति का व्यक्तित्व है किन्तु ऐसे महान् व्यक्तित्व का महत्त्वपूर्ण घटक आहार है। आज भारतवासी विलासिता में फँसकर अभक्ष्य, अपवित्र और असंयमित आहार करने लगे हैं। तामसिकता सात्त्विकता को निगलती जा रही है तथा मन की पवित्रता स्वार्थपरता रूप डाकिनी के जाल में फँस चुकी है। व्यक्ति के व्यक्तित्व की परख का यथार्थ मापदण्ड एकमात्र आहार है अतः प्रत्येक व्यक्ति को सर्वप्रथम यह देखना चाहिए कि मैं १. क्या खाता हूँ ? २. कब-कब खाता हूँ ? ३. किस प्रकार खाता हूँ, ४. कितना खाता हूँ ? ५. कितनी बार खाता हूँ ? ६. कितनी वस्तुएँ खाता हूँ, इस विवेचना से हमें अपने आहार की पवित्रता और संयमितता का बोध हो जायेगा। पश्चात् आहार पवित्र और संयमित होते ही हमें हमारी अपरिमित शक्ति का दर्शन हो जायेगा, सात्त्विकता निखरती हुई दृष्टिगोचर होने लगेगी और प्रवहमान उज्ज्वल सरिता के सदृश मानसिकता की भी समुज्ज्वलता प्रगट हो जायेगी जिससे व्यक्ति के व्यक्तित्व में सहज ही निखार आ जायेगा।

चारित्रिक पतन से बचने के उपाय

भारत धर्मप्रधान देश है और धर्म का प्रधान पक्ष चारित्र है। व्यक्तिगत चारित्र, सामाजिक चारित्र और राष्ट्रीय चारित्र के भेद से यह तीन प्रकार का होता है। वृद्धिंगत होती हुई आकांक्षाओं ने और अनर्गल भोग-विलास ने व्यक्तिगत चारित्र की रीढ़ ही तोड़ दी है। सामाजिक चारित्र को सुरक्षित रखने के लिए पूर्वाचार्यों ने पावन संहिता की जो बाड़ प्रत्येक समाज के चारों ओर लगाई थी, आज रूढ़िवाद के नाम से वह उज्ज्वल बाड़ जड़ से उखाड़ कर फेंकी जा रही है और अर्थलोलुपी, हिंसक एवं स्वार्थी राजनेताओं ने राष्ट्रीय चारित्र को कबर में दफना दिया है। चारित्रपतन की इस बेला में उसकी शुद्धि के लिए, ऊँचाई तक पहुँचने के लिए अहिंसा आदि अणुव्रत रूपी सोपानों के सहारे चढ़ना होगा। मानव की सुख-शान्ति का यही एक उत्तम मार्ग है।

वस्तुतः नैतिकता ही जीवन है और विवेकी ही जीवित है।

❑ ❑ ❑

शारीरिक पतन

जैसे जल का आधार पात्र और अग्नि का आधार ईंधन है, वैसे ही संसार में रहने के लिए जीव का आधार शरीर है। मनुष्य का यह शरीर हड्डी, मांस, मज्जा आदि सप्त धातुओं से बना है। भोजन-पान और औषधि आदि पदार्थ इसकी पुष्टता एवं सुरक्षा के घटक हैं तथा अभक्ष्य एवं असंयमित भोजन-पान, अनर्गल भोग और गुटका आदि नशीले पदार्थों का व्यसन इसके पतन का प्रधान कारण है। जैसे व्याकरण के क्विप् सूत्र से न गुण होता है, न वृद्धि होती है और न आप स्वयं टिकता है, वैसे ही स्त्री-भोग से न आत्मिक गुण प्रगट होते हैं, न शरीर की वृद्धि होती है और न सर्व धातुओं का सिरताज वीर्य ही टिकता है। इससे शारीरिक, वाचनिक और मानसिक दुर्बलताएँ पनपती रहती हैं, जो मनुष्य के सर्वगुणों का हरण कर लेती हैं। यदि भोग, रोग है तो *अतिभोग, अतिरोग है अतः भोगों का संयम ही शरीर का रक्षण कर सकता है।*

शरीर में रोग हो जाने पर पहले के लोग श्रद्धापूर्वक काढ़ा या वनस्पतियों से निर्मित शुद्ध औषधि लेते थे, जो रोग को जड़-मूल से विनष्ट कर देती थी। पाश्चात्य देश के वायु-वेग ने इस देश में अस्पताल खोले जो दिन-दूनी और रात-चौगुनी वृद्धि कर रहे हैं। आज के मानव की श्रद्धा इन्हीं पर अर्थात् डॉक्टर, इंजेक्सन और केप्सूलों आदि पर ही है, शुद्ध औषधियों पर नहीं। औषधियाँ रोग को शनैःशनैः पचाकर नष्ट कर देती हैं जबकि दवाइयाँ रोग को दबाकर रखती हैं। दवाखाना नाम ही इस बात को सिद्ध कर रहा है। आज मानव मात्र का शरीर नित्य रोगी है और जिनका शरीर रोगी है उनका मन कदापि नीरोग नहीं रह सकता, इसी कारण मनुष्य शरीर का दास बना हुआ है। याद रहे कि इस शरीर का संयोग सदा नहीं रहेगा किन्तु इसकी दासता का फल रह जायेगा जो अनेक भवों तक आत्मा को दुख देगा।

आचार्यों ने ब्रह्मचर्य को शारीरिक तप भी कहा है। यह तप शरीर के संरक्षण में सदा समर्थ है, स्वयं दीप्त है और शरीर तथा मन को

दीप्ति प्रदान करने वाला है। इसके आचरण से दोनों भवों का सुधार है, क्योंकि "जिसका मूल प्रकाशमय होता है उसका भविष्य आवरण या अन्धकारमय कदापि नहीं हो सकता"।

❑ ❑ ❑

आध्यात्मिक ज्ञान

उपयोग का आत्मा के समीप ही निवास करना आध्यात्मिकता है किन्तु यह कार्य सहजसाध्य नहीं है। इसमें सफलता तभी प्राप्त हो सकती है जब मुमुक्षुजन अपने लिए, अपने द्वारा स्वयं अपने पर नियन्त्रण रखें। नियन्त्रण की यह अपूर्व शक्ति स्वाध्याय से, चिन्तन से एवं मनन करने से तथा उत्तम चारित्र में प्रवर्तन करने से ही प्राप्त हो सकती है। अध्यात्म रूपी यह भवन आत्मश्रद्धा और सदूचारित्र रूपी दो स्तम्भों पर खड़ा होता है और भेदज्ञान रूपी तेल से जो दीप प्रज्वलित होता है उससे यह भवन सदा प्रकाशित रहता है। यथार्थत: आत्मज्ञान ही अध्यात्म है और यह सृष्टि का सबसे बड़ा रहस्य है अत: इसे प्राप्त करने का पुरुषार्थ प्रत्येक हितार्थी को करना चाहिए। आत्मिक सुख-प्राप्ति की इच्छा तो प्राय: सभी को होती है किन्तु तज्जन्य पुरुषार्थ सभी से नहीं हो पाता।

जिस वस्तु का जो स्थान नियत है वहीं खोजने पर तो वह मिल सकती है, अन्यत्र खोजने पर नहीं। इस भौतिकवादी युग में मनुष्य की दृष्टि अथवा उपयोग बाहर-बाहर दौड़ता है अत: वह अपने भीतर स्थित रत्नों को प्राप्त नहीं कर पाता। आचार्यों ने कहा है कि जिन विद्वानों या साधुओं की बुद्धिरूपी स्त्री बाह्य शास्त्ररूपी वन में घूमती है, बहुत से विकल्पों का पालन-पोषण करती है तथा चैतन्य भवन से निकल चुकी है वह पतिव्रता के सदृश समीचीन नहीं है। अध्यात्म-शून्य बुद्धिवाद मनुष्य को भटकाने वाला ही होता है। ऐसा व्यक्ति धर्मस्थानों का भी आश्रय ग्रहण नहीं करता और धर्मस्थानों के बिना अथवा हृदय में धर्म को स्थान दिये बिना अध्यात्म की उत्पत्ति या प्रगति नहीं हो सकती क्योंकि धर्म रूपी फूल ही अध्यात्म रूपी फलोत्पत्ति का कारण है। प्रत्येक हितार्थी

को अध्यात्म विद्याप्राप्ति का पुरुषार्थ करना चाहिए किन्तु अध्यात्मवादी का यह पुरुषार्थ चारित्र की शुद्धि से ही निखरता है, यह भी ध्यान रखना चाहिए।

आध्यात्मिक कसौटियाँ अत्यन्त सूक्ष्म एवं अज्ञेय होती हैं अत: अध्यात्मवादी व्यक्तियों के समक्ष भी नाना प्रकार की परिस्थितियाँ आकर खड़ी हो जाती हैं। मात्र खड़ी ही नहीं हो जातीं अपितु अपना-अपना प्रभाव भी दिखाती हैं किन्तु वे अनामंत्रित व्यक्ति के सदृश अपने-आप चली भी जाती हैं, यदि कदाचित् वे नहीं जाती हैं तो भी अध्यात्म रस के रसिक अपनी आत्मशक्ति से उन पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। संसार रूपी भयंकर अटवी से निकल कर मोक्षमहल में पहुँचने का यही एक शाश्वत मार्ग है अत: प्रत्येक हितार्थी को इसी मार्ग पर चलना चाहिए।

❑ ❑ ❑

कर्मोदय की बलवत्ता

(पद्धरि छन्द)

वह नहीं छोड़ता कभी कहीं, उसका वर्चस्व निराला है।
क्यों आकुल-व्याकुल होता है, यह तो दुष्काल विचारा है॥
॥टेक॥

यह जीव अन्य अरु कर्म अन्य, ऋषि-मुनियों ने समझाया है।
है सत्य यही, नहिं संशय है, क्यों जिनवाणी ने गाया है॥
फिर भी कर्मोदय की महिमा पर, दृष्टिपात जब जाता है।
आश्चर्य महा ! देखो ! समझो, यह जीव न कुछ कर पाता है॥१॥

जैसे पिशाच दौड़ाता है, अरु तेली बैल चलाता है।
निज स्वामी के हो वशीभूत, बन्दर क्रीड़ा दिखलाता है॥
वैसे कर्मोदय ही आतम को, जब रंगमंच पर लाता है।
निर्दय हो निष्ठुर हो उस क्षण, बस नाना रूप दिखाता है॥२॥

कर्मोदय ने प्रभु आदिनाथ को अर्धवर्ष भटकाया है।
श्री सुपार्श्व अरु पार्श्वनाथ पर, अति उपसर्ग कराया है॥
सज राजतिलक का थाल दिखा, कैकेयी के मुख कहलाया है।
श्री राम लक्ष्मण सीता को, अटवी-अटवी भटकाया है॥३॥

सन्तोष हुआ नहिं इतने से, तब सीता-हरण कराया है।
रावण की बुद्धि भ्रष्ट करी, नरकों में वास दिलाया है॥
कोटीभट थे श्रीपाल बली, कुष्ठी कर देश निकाला है।
सागर में गिरा, भांड लाया, शूली ऊपर चढवाया है॥४॥

मरघट में जीवन्धर जनमे, प्रद्युम्न का हरण कराया है।
पाण्डव पाँचों वन-वन भटके, श्रेणिक को देश-निकाला है॥
निर्दोष अंजना पति वियोग दे, रात्रि मिलन करवाया है।
जन-जन ने देखा गर्भ बढा, हनुमान गुफा जनमाया है॥५॥

नहिं जनमत मंगल गाये गये, नहिं भोजन राजघराने का।
जंगल में मरण हुआ जिनका, नहिं रोने वाला कोई था॥
श्री कृष्ण अर्धचक्री को भी जब ऐसा नाच नचाया है।
तब मूर्ख शिरोमणि ! शक्तिहीन, क्यों इस पर ध्यान टिकाया है॥६॥

घर बना लिया चौराहे पर, फिर दिन भर रुदन मचाता है।
मेरा घर उल्लंघन कर क्यों, यह मानव आता-जाता है॥
मति कर 'विशुद्ध' पर जीवों से, क्यों सुख की आशा करता है।
जो दुर्लभ नहिं अति दुर्लभ है, क्यों व्यर्थ चौकड़ी भरता है॥७॥

घड़ी

हे भव्य ! घड़ी का मूल्य करो, वह घड़ी नियम से आयेगी।
निरपेक्ष घड़ी वह अटल घड़ी, बिन लिये कदापि न जायेगी॥टेक॥

रखते हो प्रतिपल घड़ी पास, खाते पीते चलते फिरते।
नहिं एक घड़ी भी ध्यान किया, सब घड़ी गई सोते रोते॥

है हाथ-घड़ी है जेब-घड़ी, दीवालों पर सुन्दर घड़ियाँ।
पर कोई घड़ी नहिं बता सकी, आयु की नित खिरती घड़ियाँ॥१॥

इक घड़ी चैन नहिं बिना घड़ी, बस घड़ी घड़ी दो घड़ी घड़ी।
आई आकर भी चली गई, नहिं सफल बनाई कोई घड़ी॥
हर घड़ी लगी है दृष्टि वहीं, पर घड़ी न दिखती किंचित् भी।
खिर गई घड़ी हैं शेष अभी कितनी घड़ियाँ इस जीवन की॥२॥

है कौन कहाँ का घड़ीसाज, जो गढता घड़ियाँ घड़ी-घड़ी।
है स्वयं आत्मा घड़ीसाज, पर हाथ न उसके एक घड़ी॥
किस घड़ी कहाँ क्या घटना है, अघटित घटना किस घड़ी खड़ी।
जब ज्ञान नहीं इन घड़ियों का, तब व्यर्थ हुई ये सभी घड़ी॥३॥

कुछ घड़ी शेष उनकी टिक्-टिक्, भी धीमी होती जाती है।
उनके पुर्जे घिस गये सभी, अब नये न मिलने वाले हैं॥
अवशेष घड़ी है विद्यमान, पर बोध नहीं दे पाती है।
क्यों सेल हुए सब शक्तिहीन, इस भव में बदल न सकते हैं॥४॥

हे भव्य! आयु अवसान-समय, यह घड़ी, घड़ी दिखलाती है।
तुम चेतो ! जागो ! उठो ! शीघ्र, यह घड़ी खिसकने वाली है॥
जो घड़ी गई, जो निकल रही, वह कभी न वापिस आयेगी।
मति कर 'विशुद्ध' तो शेष घड़ी, अनमोल घड़ी बन जायेगी॥५॥

❑ ❑ ❑

दशधर्म एवं उनका फल

(शम्भु - छन्द)

उत्तम क्षमा, मार्दव-आर्जव, शौच सत्य संयम तप त्याग।
ब्रह्मचर्य उत्तम आकिंचन, लक्षण धर्म कहे जिनराज॥
इनमें क्षमा मार्दव आर्जव आतम के निज भाव-स्वभाग।
भावशुद्धि के सदोपाय हैं, शौच सत्य संयम तप त्याग॥१॥

ब्रह्मचर्य उत्तम आकिञ्चन, सब धर्मों का सार महान।
सार रूप यह अमृत पीकर, मुनिजन पाते हैं निर्वान॥
भिन्न-भिन्न लक्षण मन धारो, चिन्तन मनन करो श्रद्धान।
उसी रूप आचरण करो भव भ्रमण हरो पाओ सुख थान॥२॥

क्षमा सहेली समतारस है, कोपानल को करती शान्त।
मार्दव गुण है भाव नम्रता, अहंकार होता उपशान्त॥
सूत सदृश हो भाव सरलता, आर्जव गुण जिनराज कहा।
मायाचारी कपट पिशाची मन समीप नहिं आये कदा॥३॥

सन्तोषामृत शौच पवित्रा, पाप पिता का करे विघात।
सत्य वचन सज्जन आभूषण, निन्दक कटुक वचन अभिघात॥
प्राणी-इन्द्रिय संयम दोनों, सदाचार नद कूल विशाल।
बाह्याभ्यन्तर तप की ज्वाला, इच्छाओं का करे निपात॥४॥

तृष्णा नागिन को भटकाता, त्याग धर्म में ओज महान।
ब्रह्मचर्य है आत्म विहारी, आकिंचन दे शिवपुर थान॥
दशधर्मों का एकदेश श्रावकजन पालन करते हैं।
भवसमुद्र से डरते हैं वे, मरण समाधि करते हैं॥५॥

मुनिराजों का हृदय सदा दशधर्ममयी नहिं भेद जहाँ।
चित् ज्योति ने थिरता पाई, समता का है पान वहाँ॥
शीघ्र वरण करते वे मुक्ति, सुख अनन्त के अधिकारी।
'मति विशुद्ध' हो हम भक्तों की, पद पावें सब अविनाशी॥६॥

❑ ❑ ❑

नरेन्द्र - छन्द

जय जय जय सर्वज्ञ जिनेश्वर ! जिन - वाणी उच्चारी।
जय जय जय जय परम समाधि, रत्नत्रय भण्डारी॥
जय जय जय चारों आराधन, जन-जन की हितकारी।
जय जय जय यह मृत्यु महोत्सव, अतिशय मंगलकारी॥१॥

आत्मा की वर्तमान स्थिति

चेतन है निर्लज्ज देह संग, डोलत फिरत अनाड़ी।
हा ! हा ! यह संगति अति खोटी, किस विधि जाय निवारी ?
सखा अभिन्न रूप-रस वाला, कुमति कुमार्ग रिझाई।
भूल स्वभाव, सुमति नारी को, पर घर देत बधाई॥२॥ टेक॥

भेदज्ञान हो जाने पर

गुरुवाणी सुन भेदज्ञान की ज्योति जगी जगतारी।
राग तजूँ काया का अब मैं, नष्ट करूँ भव फाँसी॥
अज्ञ नहीं मैं समझ रहा हूँ, मेरी सब चतुराई।
तेरी प्रीति बन्ध का कारण, यह श्रद्धा मन भाई॥३॥ टेक॥

काया का उलहना

श्वास आयु इन्द्रिय वाणी मन, कर्म प्राण अवधारी।
ले जाते सर्वत्र मुझे ही, अब क्यों करी दुराई॥
मुझे ठौर है सर्वलोक में, चिन्ता यह अधिकाई।
मुझ बिन तुम रह सकते कैसे ? मैं ही तो उपकारी॥४॥ टेक॥

सदा मुझे ही हृदय लगाया, कभी न करी जुदाई।
अब क्यों रूस रहे हो चेतन ! क्यों दे रहे विदाई॥
'मरे हुए को मार रहे हो' यह अनीति दुखदाई।
सत्य कहो चिर साथी चेतन ! क्यों कर गही समाधि॥५॥ टेक॥

चेतन का उत्तर

चित् स्वभाव से पूर्ण सदा मैं, हूँ आनन्द बिहारी।
ज्ञान और सुख लक्षण मेरा, सत्ता तुझ से न्यारी॥
यहाँ प्रवेश नहीं अब तेरा, तू अजीव जड़ भासी।
तेरा नेह छोड़ने को ही, धारण करी समाधि॥६॥ टेक॥

चेतन का काया को आदेश

जल की भी आशा मत रखना, होगी अब न रिहाई।
बिन चेतन ही ध्यान आदि में, बनती रहो सहाई॥
जब तक यह पर्याय न छूटे, करना मत कपटाई।
मति विशुद्ध हो गई हमारी, अब न चले ठकुराई॥७॥ टेक॥

❑ ❑ ❑

मृत्यु महोत्सव की बहार

धन्य-धन्य आज घड़ी कैसी सुखकार है!
मृत्यु महोत्सव की आई बहार है॥

खुशियाँ अपार आज नन्दनवन में छाई हैं।
मुनिसंघ के दर्शन को, जनता अकुलाई है॥
गगन से आनन्द की झर रही फुहार है।
मृत्यु महोत्सव की.............॥१॥

जीर्ण-शीर्ण काया पर तप का प्रहार है।
नाच रहा मन मयूर, मृत्यु का ठाठ है॥
जय-जय के नाद से गूंजा आकाश है।
मृत्यु महोत्सव की.............॥२॥

पुद्गल परमाणु आज फूट-फूट रो रहे।
सत्य बोलो आतम क्यों छोड़ हमें जा रहे॥
चन्द क्षण साथ फिर चेतन का विहार है।
मृत्यु महोत्सव की ....॥३॥

चेतन क्यों जा रहे तुम मुर्दा बना कर।
फूँक देंगे आग में ये ईंधन को डालकर॥
जीवित प्रमाण में तुम्हारा ही आधार है।
मृत्यु महोत्सव की ....॥४॥

भेदज्ञान का अपूर्व प्र लिया उद्योत है।
कैसे रहूँ साथ जब जाति में विभेद है॥
छोड़ना सदा को अब ऐसा दृढ़ विचार है।
मृत्यु महोत्सव ....॥५॥

उत्तम समाधि रूप निर्मल प्रासाद है।
रत्नत्रय नाम वाला उत्तम ही द्वार है॥
मति की विशुद्धता प्रवेश का आधार है।
मृत्यु महोत्सव की आई बहार है॥६॥

❑ ❑ ❑

卐 उमरिया रह गई थोड़ी 卐

आतम परम समाधि साध, उमरिया रह गई थोरी।
उमरिया रह गई थोरी तूने तन की आश न छोड़ी।
अब तो करले निज का ध्यान, उमरिया रह गई थोरी॥१॥

तू सबसे क्षमा करा ले अरु मन में समता धर ले।
आतम अपने दोष निवार, उमरिया रह गई थोरी ॥२॥

ले भेदज्ञान का सम्बल, दोषों को कर अब निर्बल।
आया अन्तिम समय सम्हाल, उमरिया रह गई थोरी ॥३॥

सम्यक् आराधन प्यारी, है, ज्ञान की महिमा न्यारी।
आतम चारित तप दृढ़ पाल, उमरिया रह गई थोरी ॥४॥

तू पर परिणति से हट जा,-चेतन ज्ञान धाम में रम जा।
तेरा पल-पल बीता जाय, उमरिया रह गई थोरी॥५॥

नरभवरूपी मन्दिर पर तू कलशा रख दे सुन्दर।
ये ही है संयम का सार, उमरिया रह गई थोरी ॥६॥

तू मति को 'विशुद्ध' करले, भव सागर पार उतर ले।
चढ़कर परम समाधि नाव, उमरिया रह गई थोरी ॥७॥

❑ ❑ ❑

卐 आनन्द-धाम 卐

आनन्द मनाओ यह आनन्द का धाम है।
आनन्द का धाम है जी आनन्द का धाम है॥

जन्म साथ मृत्यु का शाश्वत विधान है।
किन्तु अज्ञानता का ओढ़ा परिधान है॥
किराये की कोठरी से बोलो क्या काम है?
आनन्द का धाम है जी आनन्द का धाम है॥१॥

मृत्यु के द्वार को स्वयं ने खोला है।
जैन साधुओं का यह साहस अनोखा है॥
स्वयं के चोले को सुखाने का ही काम है।
आनन्द का धाम........................॥२॥

जर्जर नाव लेकिन नाविक सुवीर है।
'वर्धमानसागर' का सम्बल भरपूर है॥
पार ले जाता नाव, पाता वह नाम है।
आनन्द का धाम........................॥३॥

साधना के मार्ग में साधक भी दृढ़ है।
क्षण-क्षण क्षीणकाय अन्त:प्रकाश है॥
आराधना चार से होगा भव विराम है।
आनन्द का धाम........................॥४॥

धीरे-धीरे आ रहा अवसर समीप है।
मृत्यु महोत्सव का बह रहा समीर है॥
बोधि का पाथेय ले पहुँचे शिवधाम है।
आनन्द का धाम ....॥५॥

आत्मा में खुशियों की उठ रही तरंग है।
तपोभावना की नित्य जाग्रत उमंग है॥
मति की '**विशुद्धता**' ही देती विश्राम है।
आनन्द का धाम........................॥६॥

❑ ❑ ❑

卐 समाधि-भावना 卐

दिन-रात मेरे स्वामी, मैं भावना ये भाऊँ।
देहान्त के समय में, तुमको न भूल जाऊँ॥
दिन-रात....

शत्रु अगर कोई हो, सन्तुष्ट उनको कर दूँ।
समता का भाव धरकर, सबसे क्षमा कराऊँ॥
दिन-रात....

त्यागूँ आहार-पानी, औषधि-विचार-अवसर।
टूटे नियम न कोई, दृढ़ता हृदय में लाऊँ॥
दिन-रात....

जागें नहीं कषायें, नहिं वेदना सतावे।
तुमसे ही लौ लगी हो, दुर्ध्यान को भगाऊँ॥
दिन-रात....

आतम स्वरूप अथवा, आराधना विचारूँ।
अरहन्त, सिद्ध, साधु, रटना यही लगाऊँ॥
दिन-रात....

धरमात्मा निकट हों, चरचा धरम सुनावें।
वो सावधान रक्खें, गाफिल न होने पाऊँ॥
दिन-रात....

जीने की हो न वांछा, मरने की हो न इच्छा।
परिवार मित्रजन से, मैं मोह को हटाऊँ॥
दिन-रात....

भोगे जो भोग पहले, उनका न होवे सुमिरन।
मैं राज्य सम्पदा या, पद इन्द्र का न चाहूँ॥
दिन-रात....

रत्नत्रय का हो पालन, हो अन्त में समाधि।
'शिवराम' प्रार्थना यह जीवन सफल बनाऊँ॥
दिन-रात....